ಕರ್ನಾಟಕ ರಾಜ್ಯ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ
ಮಾನಸಗಂಗೋತ್ರಿ, ಮೈಸೂರು – 570 006.

Karnataka State Open University
Manasagangothri, Mysore - 570 006.

आधुनिक हिन्दी गद्य एवं नाटक, निबन्ध, उपन्यास, कहानी

M. A. Previous HINDI
Course / Paper - III

Block - 3

ಉನ್ನತ ಶಿಕ್ಷಣಕ್ಕಾಗಿ ಇರುವ ಅವಕಾಶಗಳನ್ನು ಹೆಚ್ಚಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮತ್ತು ಶಿಕ್ಷಣವನ್ನು ಪ್ರಜಾತಂತ್ರೀಕರಿಸುವುದಕ್ಕೆ ಮುಕ್ತ ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯ ವ್ಯವಸ್ಥೆಯನ್ನು ಆರಂಭಿಸಲಾಗಿದೆ.

ರಾಷ್ಟ್ರೀಯ ಶಿಕ್ಷಣ ನೀತಿ 1986

The Open University system has been initiated in order to augment opportunities for higher education and as an instrument of democratising education.

National Education Policy 1986

प्रथम एम.ए. - कोर्स तीसरा

Course - III, Paper - III

3

''आधुनिक गद्य एवं निबंन्ध, नाटक, नाटिका, एकाँकी, उपन्यास और कहानी साहित्य''

''नाटिका चन्द्रावली एवं नाटक ध्रुवस्वामिनी ''

Unit No. 9 to 12		Page No.
अनुक्रमणिका		

इकाई	09	चन्दावली में प्रेम और भक्ति का स्वरूप	1 - 22
इकाई	10	भाषा और काव्य-तत्व	23 - 40
इकाई	11	नाटक का स्वरूप और विवेचन	41 - 68
इकाई	12	नाटककार प्रसाद	69 - 92

पाठ्यक्रम अभिकल्प तथा संपादकीय समिति

प्रो.एम.जी.कृष्णन
उप कुलपति महोदय तथा
संपादकीय समिति के अध्यक्ष
क.रा.मु.वि.विद्यालय,
मैसूर - 6

प्रो.एस.एन.विक्रमराज अरस
डीन (शैक्षणिक) - संयोजक
क.रा.मु.वि. विद्यालय
मैसूर - 6

डॉ.कांबले अशोक संयोजक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
क.रा.मु.वि.विद्यालय, मानस गंगोत्री
मैसूर - 6

डॉ.एम.विमला संपादिक
प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
ज्ञानभारती, बेंगलूर विश्वविद्यालय
बेंगलूर - 56.

पाठ्यक्रम की लेखिका

डॉ.प्रतिभा मुदलियार
रीडर, हिन्दी विभाग
मैसूर विश्वविद्यालय
मैसूर.

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय, मैसूर, शैक्षणिक अनुभाग द्वारा निर्मित । सभी अधिकार सुरक्षित । कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय से लिखित अनुमति प्राप्त किए बिना, इस कार्य के किसी भी अंश को किसी भी रूप में अनुलिपित या किसी अन्य माध्यम द्वारा प्रतिकृति नहीं किया जाएगा ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम पर अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मानस गंगोत्री, मैसूर - 6 से प्राप्त की जा सकती है ।

कर्नाटक राज्य मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से **रजिस्ट्रार (प्रशासन)** द्वारा मुद्रित व प्रकाशित ।

ब्लाक परिचय

प्रिय विद्यार्थी,

कोर्स - एक में आपने **'कर्नाटक संस्कृति एवं कन्नड़ साहित्य'** का अध्ययन किया ।

कोर्स - दो में आपने **'आधुनिक हिन्दी काव्य'** के बारे में अध्ययन किया और कविवर 'जयशंकर प्रसाद', 'मैथिलीशरण गुप्त', 'रामधरी सिंह दिनकर' और 'सूर्यकांत त्रिपाठी निराला' तथा 'नयी कवियों' के बारे में जानकारी प्राप्त कर लीं ।

अब आप **कोर्स - तीन** में **'आधुनिक गद्य एवं निबन्ध'** में हिन्दी के निबंध, नाटक, नाटिका, कहानी, एकांकी और उपन्यास के बारे में जानेंगे और 'जयशंकर प्रसाद विरचित 'ध्रुवस्वामिनी' भारतेन्दु कृत 'चन्दावली नाटिका' और 'हिन्दी के श्रेष्ठ निबन्ध' तथा 'एकाँकी वैभव' का भी अध्ययन करेंगे । 'कहानी कौस्तुभ' नामक कहानी संकलन का भी अध्ययन करेंगे । इसके अलावा आप 'जैनेन्द्र' कृत 'त्याग पत्र' तथा भीष्म साहनी का 'तमस्' उपन्यासों के बारे में भी जानकारी प्राप्त करेंगे । इससे आपने आधुनिक गद्य तथा नाटक, नाटिका, एकाँकी और उपन्यास, कहानी से परिचित होंगे ही ।

कोर्स तीन - ब्लाक - एक में आपने हिन्दी निबंध साहित्य, आचार्य शुक्ल और उनके निबंध - 'श्रद्धा-भक्ति' और 'उत्साह', हजारीप्रसाद द्विवेदी और उनके निबंध, विष्णु प्रभाकर के निबंध तथा विद्यानिवास मिश्र और उनके निबंध के बारे में और **ब्लाक - दो** में आपने विष्णु प्रभाकर के निबंध, विद्यानिवास मिश्र और उनके निबंध एवं नाटिका चन्द्रावली के बारे में जानकारी प्राप्त कर लिया ।

अब आप **ब्लाक - तीन** में नाटिका चन्द्रावली में प्रेम और भक्ति का स्वरूप, भाषा और काव्य-तत्व और नाटक ध्रुवस्वामिनी में नाटक का स्वरूप और विवेचन एवं नाटककार प्रसाद के बारे में जानकारी प्राप्त करेंगे ।

शुभकामनाओं के साथ,

डॉ.कांबले अशोक
अध्यक्ष , हिन्दी विभाग
क.रा.मु.वि. विद्यालय
मानस गंगोत्री
मैसूर - 6.

इकाई नौ : चन्द्रावली में प्रेम और भक्ति का स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

9.0. उद्देश्य

9.1. प्रस्तावना

9.2. प्रेम और भक्ति का स्वरूप

9.3. पुष्ट-मार्गीय भक्ति का स्वरूप

9.4. भारतेन्दु वल्लभ-संप्रदाय की पुष्टि-मार्गीय रागानुराग प्रेम लक्षणा भक्ति के उपासक थे

9.5. पुष्टि-मार्गीय सिद्धांतों का प्रतिपादन

9.6. चन्द्रावली में प्रेम, विरह और मिलन की चर्चा

9.7. प्रेम-विरह और मिलन के अनुसार वस्तु संविधान

9.8. प्रथम अंक

9.9. द्वितीय अंक

9.10. तृतीय अंक

9.11. चौथे अंक

9.12. चन्द्रावली में प्रेम का विशद और आदर्श रूप

9.13. बोध प्रश्न

9.0. उद्देश्य

* इस इकाई में आप 'प्रेम और भक्ति का स्वरूप' के बारे में अध्ययन करेंगे ।
* इस इकाई में आप 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' के बारे में भी अध्ययन करने जा रहे हैं ।
* इस इकाई में आप 'प्रेम-विरह-मिलन' के बारे में जानेंगे ।

9.1. प्रस्तावना

पिछले इकाई में आपने चन्द्रावली की कथा जान लिया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बारे में भी आपने अध्ययन किया और चार अंकों के बारे में सविस्तार अध्ययन भी किया । अब इस इकाई में आप 'पुष्टिमार्गीय भक्ति' तथा 'वल्लभ संप्रदाय' के बारे में अध्ययन करेंगे । चन्द्रावली नाटिका प्रेम-विरह-मिलन की नाटिका है - इसके बारे में आप जानकारी प्राप्त करने वाले है ।

9.2. प्रेम और भक्ति का स्वरूप

'चन्द्रावली' में वर्णित प्रेम भारतेन्दु के भक्ति-भाव और उनके धार्मिक विचारों की प्रतिच्छाया है । वह उनके व्यक्तित्व का ही एक पक्ष और प्रेम संबंधी विचारों का दर्पण है । चन्द्रावली का प्रेम संसार को स्पर्श करता हुआ भी उससे परे है । उसमें अलौकिक प्रेम की झलक मिलती है । बल्लभ का पुष्टि मार्गीय प्रेम-तत्व ही 'चन्द्रावली' में भारतेन्दु की रागानुराग-भक्ति का पोषण करता है ।

9.3. पुष्टि-मार्गीय भक्ति का स्वरूप

बल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित पुष्टि-मार्गीय में 'पुष्टि' का अर्थ 'कृपा', 'पोषण' या 'अनुग्रह' है । इसके अनुसार जीव का कल्याण प्रभु की कृपा पर ही अवलम्बित होता है - 'कृष्णानुग्रहरूपा पुष्टिः' - भगवान की कृपा पाने के लिए ही जीव उनसे प्रेम करता है । भगवान की कृपा ही साधन और फल दोनों है । पुष्टि मार्गीय भक्ति

में भगवान भक्त की योग्यता और अयोग्यता का ध्यान किये बिना उसके प्रेम की तीव्रता को देखते हैं । पुष्टि-मार्गीय भक्ति की विशेषतएँ निम्नलिखित हैं -

1. जीव का कल्याण भगवान की कृपा पर है ।
2. भगवान की कृपा ही साधन और फल दोनों हैं ।
3. प्रभु समर्पण और प्रेम-विह्वलता से ही द्रवित होकर कृपा करते हैं ।
4. श्रीकृष्ण का साक्षात्कार, उनकी लीलाओं का आनंद, उनकी लीला भूमि वृन्दावन के दर्शन, नन्द-यशोदा तथा गोप-गोपी जनों का भाव रखना और सायुज्य भक्ति पाना ही भक्त का लक्ष्य रहता है ।
5. शुद्ध पुष्टि-भक्ति के - **स्नेह, आसक्ति** तथा **व्यसन** तीन तत्व है ।
6. लौकिक पदार्थों से भक्त के बन्धन छूट जाते हैं ।
7. भक्त की दुनिया कृष्णमय हो जाती है ।
8. बल्लभ सम्प्रदाय में राधा को ठकुरानी (स्वामिनी) का षद प्राप्त है ।
9. राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति की उपासना का बल्लभ-सम्प्रदाय में महत्व है ।
10. बल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की अनन्यता के लिए विरह को कसौटी माना गया है ।
11. पुष्टि-मार्गीय भक्ति में कृष्ण के अतिरिक्त कृष्ण से संबंधित वस्तुओं और स्थानों को भी विशेष महत्व दिया गया है ।

9.4. भारतेन्दु वल्लभ-संप्रदाय की पुष्टि-मार्गीय रागानुराग प्रेम लक्षणा भक्ति के उपासक थे

भारतेन्दु राधा-कृष्ण की युगल-मूर्ति के उपासक थे । 'चन्द्रावली' का समस्त कथानक युगल-मूर्ति की प्रेम लीलाओं तथा विरह से भरा हुआ है । भारतेन्दु का ईश्वर के प्रति जो दृष्टिकोण था, वही इस नाटिका में प्रदर्शित हुआ है । भारतेन्दु पुष्टि-मार्गीय

प्रेम-लक्षणा भक्ति को बाल्यकाल से अपना चुके थे । उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा है -

सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधा रानी के ।

x x x

हम तो मोल लिए या घर के ।।

भारतेन्दु के परिवार में युगल मूर्ति की सेवा होती आई थी । वे स्वयं 'तदीय नामांकित वैष्णव' थे । उन्होंने 'तदीय सर्वस्व' में 'नारदीय-सूत्र' की व्याख्या करते हुए कृष्ण के प्रति अपनी अनन्य भक्ति प्रदर्शित की है -

''जीवन का परम फल तुम्हारा अमृतमय प्रेम है, यदि वही नहीं, तो फिर या क्यों ? ''

भारतेन्दु जी कृष्ण ही को संसार की समस्त वस्तुओं का मूल कारण मानते हैं । वे वेदों से भी पूजित हैं । उनके अनुसार राधा, कृष्ण की प्रेममयी और प्राणमयी मूर्ति हैं । इस प्रकार प्रेम-मूर्ति श्रीकृष्ण ही भारतेन्दु की भक्ति का आधार हैं ।

भारतेन्दु व्यवहार और सिद्धांत दोनों ही दृष्टियों से कृष्ण के परम भक्त थे । भारतेन्दु बल्लभ-संप्रदाय में दीक्षित हुए थे । सं.1920 में उन्होंने **'तदीय समाज'** की स्थापना की । इस समाज के मुख्य सिद्धांत निम्नलिखित थे -

1. इसका उद्देश्य शुद्ध-प्रेम की वृद्धि करना था ।
2. प्रत्येक वैष्णव इसमें प्रवेश पा सकता था ।
3. इस समाज में प्रवेश से पहले प्रत्येक वैष्णव प्रतिज्ञा करता था कि हम केवल परम प्रेममय भगवान श्री राधिका-रमण का ही भजन करेंगे । बड़ी-से-बड़ी विपत्ति से हम अन्याश्रय न करेंगे । युगल रूप में हम भेद दृष्टि न रखेंगे ।

भारतेन्दु जी ने - **'तदीय समाज'** की स्थापना के तीन वर्ष पश्चात (सं.1923) में 'चन्द्रावली नाटिका' की रचना की । अतएव यह स्वाभाविक था कि यह नाटिका उनके धार्मिक और प्रेम संबंधी विचारों का प्रतिबिम्ब बन जाती । चन्द्रावली का प्रेम कृष्ण-प्रेम की

उज्ज्वल परंपरा का प्रेम है । चन्द्रावली का प्रेम और भक्ति बल्लभाचार्य की पुष्टि-मार्गीय रागानुराग प्रेम-भक्ति को कसौटी पर लिखा है ।

भारतेन्द्र के प्रेम में चातक-प्रेम की अनन्यता और आदर्श है । चन्द्रावली लोक-लाज और कुल की मर्यादा छोड़कर कृष्ण-मिलन को आतुर हो जाती है । उसके लिए समस्त विश्व तथा जड़-चेतन कृष्णमय है । वह मार्ग की कठिनाइयों की चिन्ता किये बिना कृष्ण से प्रेम करती है ।

चन्द्रावली के समर्पण में भारतेन्दु की व्यक्तिगत रागानुराग प्रेम-लक्षणा भक्ति का ही स्वरूप स्पष्ट हुआ है -

''लो तुम्हारी 'चन्द्रावली' तुम्हें समर्पित है । अंगीकार तो किया ही है, इस पुस्तक को भी उन्हीं की कानि से अंगीकार करो ! इसमें तुम्हारे उस प्रेम का वर्णन है, इस प्रेम का नहीं जो संसार में प्रचलित है ।''

यह समर्पण स्पष्ट करता है कि 'चन्द्रावली' का प्रेम पारलौकिक प्रेम है और उसमें भारतेन्दु की प्रेम और भक्ति भावना का ही प्रतिबिम्ब है । नांदीपाठ में भी यही भावना व्यक्त हो रही है -

भरति नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर ।
जयति, अपूरब धन कोऊ, लखि नाचत मन मोर ।।
नेति नेति तत्-शब्द प्रतिपाद्य सर्व भगवान् ।
चन्द्रावली चकोर, श्रीकृष्ण करो कल्यान ।।

विष्कम्भक में प्रेम-भक्ति का प्रतिपादन भारतेन्दु जी ने शुकदेव से निम्न प्रकार कराया है -

''वह जो परम प्रेम अमृतमय एकांत भक्ति है, जिसके उदय होते ही अनेक प्रकार के आग्रह स्वरूप ज्ञान विज्ञानादि अंधकार नाश हो जाते हैं और जिसके चित्त में आते ही संसार का निगड़ आप से आप खुल जाता है, वह किसी को नहीं मिली ? मिले कहाँ

से ? सब इसके अधिकारी भी तो नहीं ..... नहीं-नहीं ब्रज गोपियों ने उन्हें भी जीत लिया है । उनका कैसा विलक्षण प्रेम है - अकथनीय और अनुकरणीय, क्योंकि जहाँ माहात्मय ज्ञान होता है, वहाँ प्रेम नहीं होता । जहाँ पूर्ण प्रेम होता है, वहाँ माहात्मय ज्ञान नहीं होता ।''

नारद के कथन में भी प्रेम की यही अनन्यता है । वे परम प्रेमानन्दमयी ब्रज बल्लभी लोगों का दर्शन करके अपने को कृतार्थ मानते है । वे गोपियों की विरह-दशा को देखते हुए अपनी सुध-बुध भूल जाते हैं, और वर्षों वहाँ पड़े रहते हैं वे शुकदेव से कहते हैं -

''श्रीमती की कोई बात ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण ही हैं, लीलार्थ दो हो रही हैं ; तथापि सब गोपियों में श्रीचन्द्रावली के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है । अहा ! कितना विलक्षण प्रेम है, यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब निषेध करते हैं और उधर श्रीमती जी का भी भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल के दूध की भाँति मिल रही हैं । लोक-लाज गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकतें । किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिल ही लेती है ।''

पुष्टि-मार्गीय भक्ति में प्रेम की अनन्यता के लिए विरह को कसौटी माना गया है । चन्द्रावली का विरह इस भक्ति के अनुरूप ही है । चन्द्रावली वियोग में उन्माद और प्रलाप की अवस्था को पहुँच जाती है । उसके लिए समस्त जड़-चेतन प्रियतममय हो जाते हैं । द्वितीय और तृतीय अंक में विरह का जो मार्मिक वर्णन हुआ है, वह पुष्टि-मार्गीय भक्ति की कसौटी पर खरा उतरता है । चन्द्रावली के प्रलाप और स्वगत कथनों में विरह चरमावस्था में पहुँच जाता है । चन्द्रावली के सारे प्रलाप कृष्ण की कृपा-अनुग्रह प्राप्त करने के लिए ही हैं । पुष्टिमार्ग में भगवान केवल भक्त के प्रेम की तीव्रता से ही उसकी भक्ति को आँकते हैं । चन्द्रावली संसार के समस्त कार्यों और धन्धों को त्याग कर निष्काम भक्ति करती है । कृष्ण ही उसका सर्वस्व है । चन्द्रावली की

वियोग-विह्वलता देखकर कृष्ण आप-ही आप उसके प्रेम की प्रशंसा करते हैं -

"निःसन्देह इसका प्रेम पक्का है । देखो, मेरी सुधि आते ही इसके कपोलों पर कैसी एक साथ जरदी दौड़ आई ..... अब तो मुझसे नहीं रहा जाता । इससे मिलने को अब तो सभी अंग व्याकुल हो रहे हैं ।"

भगवान का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए भक्त का उनके विरह में **क्षीण होना ही पुष्टि-मार्गीय भक्ति का चरम लक्ष्य** है । 'चन्द्रावली' में भारतेन्दु का उद्देश्य इसी भक्ति को दिखाना है ।

9.5. पुष्टि-मार्गीय सिद्धांतों का प्रतिपादन चन्द्रावली में स्थान-स्थान पर मिलता है ।

जोगिन (कृष्ण) पुष्टि-मार्गीय भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

"तौ प्यारी मैं तोहि छोड़ि कै कहाँ जाऊँगी, तू तौ मेरी स्वरूप ही है । हय सब प्रेम की लीला करिबे को मेरी लीला है .... मैं निष्ठुर नहीं हूँ । मैं अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ । परंतु मोहि निहचै है कै हमारे प्रेमिन को हम सो हूँ हमारो विरही प्यारो है ..... प्यारी, छिमा करियौ, हम तौ तुम्हारे सबन के जन्म-जन्म की रिनियाँ हैं ।"

ललिता और विशाखा के कथनों में भारतेन्दु जी **पुष्टिमार्गीय** भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

"सच है युगल के अनुग्रह बिना इस अकथ आनन्द का अनुभव और किसको है ..... ? " **- ललिता**

"सखी, पीतम तेरो तू पीतम की, हम तो तेरी टहलनी हैं । यह सब तो तुम सबन की लीला है । या मैं कौन बोले और बोले कहा जो समझै तौ बोलै या प्रेम की तो अकथ कहानी है । तेरे प्रेम को परिलेख तो टकसार होयगो और उत्तम प्रेमिन को छोड़ि और

काहू की समझ ही मैं न आवैगो ! तू धन्य, तेरो प्रेम धन्य, या प्रेम के समझिब बारे धन्य ओर तेरे प्रेम को चरित्र जो पढ़े सो धन्य । तोमें और स्वामिनी में भेद नहीं है । ताहू मैं तू रस की पोषक ठैरी । सब, अब हमारी दोऊन सो यही विनती है कि तुम दोनों गलबाहीं दैके विराजो और हम जुगुल जोड़ी के दर्शन करि आज नेत्र सफल करें ।''

शुद्ध-पुष्ट भक्ति की स्नेह, आसक्ति और व्यसन तीन अवस्थाएँ होती हैं 'चन्द्रावली' के विष्कम्भक तथा प्रथम-अंक में स्नेह ; द्वितीय अंक में आसक्ति चतुर्थ अंक में कृष्ण-मिलन की व्यसन है । ललिता का निम्न कथन पुष्टि मार्गीय भक्ति का ही भाष्य है -

अलख गति पिया प्यारी की ।
को कहि सकत लख़त नहिं आवै तेरी गिरधारी की ।
बलि-बलि विछुरनि हँसनि रूठनि ही यारी की ।
त्रिभुवन की सब रति गति मति छबि या बलिहारी की ।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति में कृष्ण के अतिरिक्त कृष्ण से संबंधित वस्तुओं को भी अधिक महत्व दिया गया है । चन्द्रावली कृष्ण से संबंधित समस्त स्थानों और वस्तुओं का स्मरण करती हुई अपने प्रेम का प्रदर्शन करती है । भारतेन्दु जी ने अपने धार्मिक विश्वासों के अनुरूप ही 'चन्द्रावली' में भगवान की लीला, भगवान की कृपा, वृन्दावन, गोपी-जन, गिरिराज, यमुना आदि के महत्व का वर्णन किया है -

राधा-चन्द्रावली कृष्ण ब्रज-जमुना-गिरिवर मुखहि कहौरी ।
जनम-जनम यह कठिन प्रेम ब्रत हरीचन्द इकरस निबहौरी ।

चन्द्रावली के लिए सारा संसार ही कृष्णमय है । वह वनदेवी को ही कृष्ण समझ लेती है और पागलों की तरह वृक्ष-लतादि से कृष्ण का पता पूछने लगती है । वह केले के वन को ''प्यारे ही को धाम है'' कह देती है । संध्या उसकी दशा को

स्पष्ट करती हुई कहती है -

पूछत सखी कै एकै उतर बतावति ;
जकी सी एक रूप आज श्यामा भई है !

'चन्द्रावली नाटिका' के कथानक का अन्त युगल छवि की झाँकी से होता है । बल्लभ-संप्रदाय के वैष्णवों में युगल छवि के दर्शन को विशेष महत्त्व दिया गया है । कृष्ण और 'चन्द्रावली' गलबाँही डालकर बैठते हैं । विशाखा और ललिता अभिनन्दन करती हैं । इसमें भारतेन्दु की अपनी भक्ति-भावना का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है -

नीके निरखि निहार नैन भरि भरि नैननि को फल आजु लहौरी ।
जुगुल रूप छवि अमित माधफरी, रूप-सुधा रस-सिन्धु बहौरी ।।
इनहीं सों अभिलाख करि इहीं को नितहि चहौरी ।
जौ नर तनह सफल करि चाहौ इनहीं के पद-कंज गहोरी ।।
करम-ज्ञान संसार पाल तजि बरु बदनामी कोटि सहौंरी ।
इनहीं के रस मस्त मगन नित इनहीं के ह्वै जगत रहोरी ।।

भगवान स्वयं अपने अनुग्रह की पुष्टि करते हुए कहते हैं -

''प्यारी ! और जो इच्छा होय सो कहौ, कोहे सों कै जो तुम्हें प्यारा है सोई हमें हुँ प्यारो है ।''

9.6. चन्द्रावली में प्रेम, विरह और मिलन की चर्चा

'चन्द्रावली नाटिका' में चन्द्रावली के प्रेम, विरह और कृष्ण मिलन का वर्णन है । आदि से लेकर अंत तक सारा कथानक चन्द्रावली की प्रेम चर्चा से ही गठित हुआ है । प्रेम के दोनों पक्ष, संयोग-श्रृंगार और वियोग-श्रृंगार, संयोग के उद्दीपन तथा वियोग की समस्त दशाओं का विस्तार से वर्णन है । शुकदेव और नारद के सम्भाषण में चन्द्रावली के अनुपम प्रेम का महत्व प्रतिपादित होता है । यही से कथानक प्रारंभ होता है । चन्द्रावली और ललिता के वार्तालाप से चन्द्रावली के असीम प्रेम का पता लगता है । इसके पश्चात् तीसरे अंक तक चन्द्रावली के प्रलापों में विरह-दशाओं के

समस्त रूप सामने आ जाते हैं । 'चन्द्रावली संयोग के समय का स्मरण भी करती है । वर्षा और झूला के प्रसंग चन्द्रावली के प्रेम-विरह को उद्दीप्त कर देते हैं । चौथे अंक में फलागम के रूप में चन्द्रावली का श्रीकृष्ण से मिलन होता है । सारा कथानक प्रेम-विरह और मिलन में सुश्रृंखलित हुआ है । अब हम इस पर सूक्ष्म रूप से विचार करेंगे ।

9.7. प्रेम-विरह और मिलन के अनुसार वस्तु-संविधान

'चन्द्रावली का कथानक चार अंकों में संगठित है । प्रस्तावना में शुकदेव के भावमय और प्रेममय स्वरूप की झाँकी सामने आती है । उनके रूप में जैसे प्रेम-पुँज ने ही शरीर धारण कर लिया हो -

अति कोमल सब अंग रंग साँवरौ सलोना ।
घूँघर वाले बालन पै बलि बारौं टोना ।।
भुज विशाल, मुखचन्द झलमले नैन लजौहैं ।
जुग कमान सी खिंची गड़त हिय में दोउ भौंहैं ।
छवि-लखत नैन चित नहिं टरत शेभा नहिं कहि जात है ।
मनु प्रेम-पुंज ही रूप धरि आवत आजु लखात है ।

प्रथम अंक से पहले **'प्रेम सुख नामक विष्कम्भक'** में नारद गोपियों के प्रेम के साथ चन्द्रावली के अनन्य प्रेम का परिचय देते हैं । यहाँ चन्द्रावली के लौकिक प्रेम के साथ में आध्यात्मिक प्रेम की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है -

''गोपिन की सरि कोऊ नाहीं ।
जिन तृन-सम कुल'लाज निगड़ सन तोर्यो हरि-रस माहीं ।
जिन निज बस कीने नंदनन्दन बिहरीं दै गलबाहीं ।
सब सन्तन के सीस रहौ इन चरन छत्र की छाहीं ।''

''.....तथापि सब गोपियों में भी चन्द्रावली के प्रेम की चर्चा आजकल ब्रज के डगर-डगर में फैली हुई है । अहा ! कैसा विलक्षण प्रेम है !! यद्यपि माता-पिता, भाई-बन्धु सब विरोध करते हैं

और उधर श्रीमती जी का भय है, तथापि श्रीकृष्ण से जल में दूध की भाँति मिल रही हैं । लोक-लाज, गुरुजन कोई बाधा नहीं कर सकते । किसी उपाय से श्रीकृष्ण से मिली ही रहती हैं ।''

9.8. प्रथम अंक

इस अंक में चन्द्रावली और उसकी सखी ललिता के वार्तालाप द्वारा यह प्रकट होता है कि चन्द्रावली का कृष्ण के प्रति प्रेम है । चन्द्रावली पहले अपने प्रेम को छिपाती है, किन्तु ललिता के आग्रह पर वह अपना प्रेम प्रकट करती हुई कहती है -

''.....सखी, मैं क्या करूँ, मैं कितना चाहती हूँ कि वह ध्यान भुला दूँ पर उस निठुर को छवि भूलती नहीं ; इसी से सब जान जाते हैं ।''

चन्द्रावली के निम्न कथनों से उसके हृदय की प्रेम-विह्वलता और प्रेम-अनन्यता प्रकट हो रही हे -

सखी ये नैना बहुत बुरे ।
तब सौं भये पराये, हरिसौं जबसे जाय जुरे ।।

x x x

नैना वह छबि नाहिं न भूले,
परबस भये फिरत हैं नैना एक टक टरत न टारे ।
हरि ससि-मुख ऐसी छवि निरखत तन मन धन सब हारे ।

x x x

मन मोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसन सों सदा धोबति हैं ।
'हरिचन्द' जू प्रेम के फन्द परी,
कुल की कुल लाजहि खोबति हैं ।।
दुख के दिन कौ कोउ भाँति बितै,
बिरहागम रैंनि संजोवति हैं ।
तुमहीं अपुनी दशा जानें सखी,
निसि सोवति हैं किधौं रोवति हैं ।।

"..... मुझे कुछ इच्छा नहीं है और न कुछ चाहती हूँ । तो भी मुझको उनके वियोग का बड़ा दुःख होता है ।"

प्रथम अंक के अंत तक स्पष्ट हो जाता है कि चन्द्रावली का कृष्ण से अनन्य प्रेम है । उसका कृष्ण से मिलन हो चुका है । उसके कथनों से मिलन स्मृति प्रकट होती है । चन्द्रावली का प्रेम निस्वार्थ-प्रेम है, जो भौतिक धरातल से उठकर आध्यात्मिक (ईश्वर-प्रेम) की ओर ले जाने वाला है । ललिता के निम्न कथन से यह तथ्य स्पष्ट है -

"..... तू धन्य है । संसार में जितना प्रेम होता है, कुछ इच्छा लेकर होता है और अन्य लोग अपने ही सुख में सुख मानते हैं, पर उसके विरुद्ध तू बिना इच्छा के प्रेम करती है और प्रीतम के सुख में सुख मानती है । यह तेरी चाल संसार से निराली है । इसी से मैंने कहा था कि तू प्रेमियों के मण्डल को पवित्र करने वाली है ।"

9.9. दूसरा अंक

'प्रियान्वेषण' नाम के इस अंक में विरह ही विरह है । चन्द्रावली अपना विरह-निवेदन करती है । बनदेवी, संध्या और वर्षा आदि सखियों से चन्द्रावली के वार्तालाप में विरह अभिव्यक्त होता है । विरहोन्माद में चन्द्रावली कृष्ण को खोजती फिरती है । दूसरे अंक के कथानक का प्रारम्भ चन्द्रावली के विरह-जनित उद्‌गारों से होता है । वह अपनी प्रेम पीड़ा किससे कहे, उसकी दशा को कौन सुनेगा और समझेगा ? जो कुछ उस पर बीत रही, उसे वह ही सहन करेगी -

जग जानत कौन है प्रेम-विथा,
केहिसों चरचा या वियोग की कीजिए ।
पुनि को कही मानै कहा समुझै, कोउ,
क्यों बिन बात की रारसि लीजिए ।
नित जो 'हरिचन्द' जू बीते सहै,

बकिकै जग क्यों परतीतहि कीजिए ।
सब पूछत मौंन क्यों बैठि रही,
पिय प्यारे तिनहिं का ऊतरु दीजिए ।।

प्रियतम प्रेम लगाकर उसे भुला बैठे । यदि उनको ऐसा ही करना था, तो उन्होंने अपनाकर उसे बदनाम क्यों किया -

पहिले मुसुकाइ लजाय कछू,
क्यों चितैं मुरि मों तन छाम कियो ।
पुनि नैन लगाइ बढ़ाइकै प्रीति,
निबाहन को क्यों कलाम कियो ।।
'हरिचन्द' भये निरमोही इतै,
निज नेह को यों परिनाम कियो ।
मन माहिं जो तोरन हूँकी हूती,
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो ।।

यह तो उसके नेत्रों का ही दोष है, जो उससे बिन पूछे ही कृष्ण के हो गये । उनका रोना व्यर्थ है । उन्हें अपनी करनी का फल चखना ही पड़ेगा -

क्यों अब रोइ के प्राण तजौ,
अपने किये को फल क्यों नहिं चाखौ ।

प्रियतम से बिछुड़कर चन्द्रावली के लिए सारा जग सूना हो गया -

बिछरे पिय के जग सूनो भयो,
अब का करिए केहि देखिए का ।

'चन्द्रावली' का विरह उन्माद की अवस्था को पहुँच जाता है । उसे जड़-चेतन का ज्ञान नहीं रहता । कदम्ब, निम्ब, बकुल, नमाल, कुंजलता और यमुना से प्रियतम का पता पूछती है । विरह को चरमावस्था में पहुँच कर उसके लिए जगत और जड़-चेतन सभी प्रियतममय ही हो जाते हैं -

वर्षा - कहाँ चली सजि कै,
चन्द्रावली - पियारे सों मिलन काज -

वर्षा - कहाँ तू खड़ी है,
चन्द्रावली - प्यारे ही को यह धाम है ।
वर्षा - कहा कहे मुखसौं -
चन्द्रावली - पियारे प्रान प्यारे -
वर्षा - कहा काज है,
चन्द्रावली - पियारे सो मिलन मोहि काज है -
वर्षा - मैं हूँ कौन बोल तो -
चन्द्रावली - हमारे प्रान प्यारे हौ न
वर्षा - तू है कौन ?
चन्द्रावली - प्रीतम पियारों मेरो नाम है ।

विरह-विह्वलता में चन्द्रावली अनुनय करती है कि उनका प्रियतम अपनी साँवरी छवि आकर दिखा दे -

बलि साँवरी सूरत मोहनी मूरत,
आँखिन कौ कबों आई दिखाइए ।

चाहे, संसार उसकी चर्चा करे, किंतु वह सारे संकोच छोड़कर नेत्र भर के प्रिय की छवि देखने को आतुर है -

चार चबाइन कौर चहूँ और सों,
सोर मचाय पुकारन दीजिए ।
छाँड़ि संकोचन चन्द्र मुखे,
भरि लोचन आजु निराहन दीजिए ।

विरह सागर में निमग्न होकर चन्द्रावली अपने को भूल जाती है । वह प्रियतम को प्रेममय ताने देती हैं । कभी उनको 'झूठन कौ सरताज' और कभी 'मोहन प्यारे झूठे' कहती है ।

पशु-पक्षियों से प्रियतम का पता पूछती हुई चन्द्रावली थक जाती है । उसे कोई उत्तर नहीं मिलता । वह निराश होकर कहती है -

कोउ नहि उत्तरु देत, भए सबही निरमोही ।
प्राण पियारे अब बोलौ, कहाँ खोजों तोही ।।

इसके पश्चात् मिलन के क्षणों का स्मरण करती हुई वह प्रलाप करती है ''.प्यारे ! अब बहुत भई, अब सही नहीं जाती । मिलना हो तो जीते जी मिल जाओ । हाय ! जी भर आँखों से देख भी लिया होता, तो जी का उमाह निकल गया होता । मिलना तो दूर, मैं तो मुँह देखने को तरसती थी । कभी सपने में भी गले न लगाया ... इन घर वालों और बाहर वालों के पीछे कभी उनसे रो-रो कर अपनी विपत भी न सुनाई कि जी भर जाता । लो घर वालों और बाहर वालों, ब्रज को सम्हालो । मैं तो अब यहीं .... ''

दूसरे अंक के 'भेद-प्रकाशन' अंकावतार में सन्ध्या चन्द्रावली का पत्र लेकर कृष्ण के पास चलती है, जो मार्ग में गिर जाता है । वह चंपकलता को मिलता है । इसमें चन्द्रावली के प्रेम-विरह का प्रकाशन पूर्ण रूप से प्रकट हो जाता है ।

9.10. तृतीय अंक

तीसरे अंक के प्रारंभ में विरह ही विरह है । वृन्दावन का वातावरण और झूला का प्रसंग चन्द्रावली के विरह को उद्दीप्त कर देता है ।

झूलति हिये में प्रान प्यारे के बिरह सूल,
फूलति उमंग भरी झूलति हिंडोरे पै ।
गावति रिझावति हँसावति सबन 'हरि-
चन्द्र' चाव चौगुनों बढ़ाई घन घोर पै ।
वारि वारि डारी प्रान हँसनि मुरनि बत
रान मुँह पान कजरारे दृग डोरे पै ।
ऊनरी घटा मैं देखि दूनरी लगी है आहा,
कैसी काजु चुनरी फबी है मुख गोर पै ।।

काममंजरी, माधवी और विलासिनी चन्द्रावली से कृष्ण को मिलाने का निश्चय करती हैं ।

वर्षा का यह रमणीय वातावरण चन्द्रावली के विरह को अत्यधिक उद्दीप्त कर देता है । सखी उससे झूला से झूलने को

कहती है । परंतु उसके नेत्र तो सदैव ही झूले पर झूलते रहते हैं -

''पल पटुली पै डोर प्रेम की लगाय चारु,
आसा ही के खंभ दोय गाड़ कै धरत है ।
झुमका लकित काम पूरन उछाह भर्यो,
लोक बदनामी भूमि झालर झरत है ।
'हरिचन्द्र' आँसू दृग नीर बरसाइ प्यारे,
पिया गुन गान सो मलार उचरत है ।
मिलन मनोरथ के झोंटन बढ़ाइ सदा,
विरह-हिंडोर नैन झूल्योई करत है ।''

बादलो और वर्षा के सजे हुए वातावरण को देखकर चन्द्रावली बहुत विह्वल और दुःखी हो जाती है, वह कहती है -

''देखि घनश्याम-घनश्याम की सुरति करि,
जिय मैं विरह घटा घहरि-घहरि उठै ।
त्यौंही इन्द्रधनुष बनमाल देख बनमाल,
मोतीलर पी की जिय लहिर-लहिर उठै ।

माधवी प्यारी जू को मनाइबे का जिम्मा लेती है, काममंजरी लाल जू को मनाने का भार लेती है और माधवी चन्द्रावली के घर वालों को समझाने का कार्य लेती है । यहीं से विरह के पश्चात् मिलन की आशा होने लगती है ।

चन्द्रावली सखियों से कहती है - सखियों ! व्यर्थ क्यों यत्न करती हो । मेरे भाग्य ऐसे नहीं हैं कि कोई काल सिद्ध हो ।

'हरिचन्द्र मोर पिक धुनि सुनि बंशीनाद,
बाँकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै ।
देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमक पीठ,
पट छोर मेरे हिय फहरि फहरि उठै ।''

9.11. चौथे अंक

चौथे अंक में श्रीकृष्ण योगिन के वेश में चन्द्रावली की बैठक में पधारते हैं ।

कोई एक जोगिन रूप कियैं ।
भौहैं बक छकोहैं लोचन चलि चलि कोयन कान छियैं ।।
शोभा लखि मोहत नारी नर वारि फेरि जल सबहिं पियैं ।
नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधे बीन लियैं ।।

बनो मनमोहिनी जोगिनियाँ ।
गल सेली तन गेरुआ सारी केस खुले सिर बैंदी सोहिनियाँ ।
मातै नैन लाल रंग डोर मद बोरे मोहै सबन छलिनियाँ ।।
हाथ सरंगी लिये बजावत गाय जगावत विरह अगिनियाँ ।।

जोगिन प्रेम की आई ।
बड़े-बड़े नैन छुए कानन लौं चितवन मद अलसाई ।।
पूरो प्रीति रीति रस सानी प्रेमी उन मन भाई ।
नेह-नगर मैं अलख जगावत गाबत बिरह बधाई ।।
जोगिन-आँखन प्रेम-खुमारी ।
चंचल लोयन-कोयन खुभि रही काजर रेख ढरारी ।।

चन्द्रावली को शंका होने लगती है कि योगिन-वेश में कहीं उसके प्रियतम ही तो नहीं है ।

पचि मरत बृथा सब लोग जोग सिरधारी ।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिनी नारी ।।
विरहागिनी धूनी चारों ओर लगाई ।
बसी धुनि की मुद्रा कानो परिहाई ।।
असुअन को सेली गल में लगत सुहाई ।
तन धूर जमीं सोई अंग भभूत रमाई ।।
लट उरझि रही सोइ लटकाई लट कारी ।
साँची जोगिन पिय बिना वियोगिन नारी ।।
गुरु बिरह दियो उपदेश सुनी ब्रजबाला ।
पिय बिछुरन दुःख बिछाओ तुम मृगछाला ।।
मन के मनके की जपो पिया की माला ।
बिरहिन की तो हैं सभी निराली चाला ।।

पीतम से लगि लौ अचल समाधि न टारी ।
साँची जोगिन पिय बिना बियोगिन नारी ।।

चन्द्रावली उन्माद में गीत-गाते मूर्च्छित होकर गिरना चाहती है ।

जोगिन रूप सुधा को प्यासी ।
बिनु प्रिय मिलें फिरत बन हो बन छोई मुखहि उदासी ।।
भोग छोड़ि धन धाम काम तजि भई प्रेम बनवासी ।।
पिय हित अलख-अलख रट लागी पीतम रूप उपासी ।।
मनमोहन प्यारे तेरे लिए जोगिन बन-बन छान फिरी ।

कोमल से तन पर खाक मली ले जोग स्वाँग समान फिरी ।।
तेरे दरसन कारन डगर डगर करती तेरा गुन गान फिरी ।
अब तो सूरत दिखला प्यारे 'हरिचन्द' बहुत हैरान फिरी ।।

कृष्ण उसकी प्रेम-विह्वलता और अनन्यता से द्रवित होकर उसे सम्हाल लेते हैं । इसी समय स्वामिनी जी की भी आज्ञा मिल जाती है । कृष्ण और चन्द्रावली का मिलन हो जाता है ।

नीके निरखि निहारि नैन भरि नैनन को फल आजु लहौरी ।
जुगल रूप चबि अमित माधुरी रूप-सुधा-रस-सिंधु बहौरी ।।
इनही सौं अभिलाख लाख करि इक इनहीं को नितहि चहौरी ।
जो नर तनहि सफल कर चाहौ इनही के पद कंज गहौरी ।।
करम, ज्ञान, संसार-जाल तजि बरु बदनामी कोटि गहौरी ।
इनहीं के रस मत्त मगन नित इनहीं के ह्वै जगत रहौरी ।
इनके बल जग जाल कोटि अध तृन सम प्रेम प्रभाव दहौरी ।
इनहीं को सरबस करि जानौ यहैं मनोरथ जिय उमहौरी ।।
राधा-चन्द्रावली कृष्ण ब्रज जमुना गिरिवर मुखहिं कौहरी ।
जनम जनम यह कठिन प्रेमव्रत ''हरीचन्द्र'' इकरस निबहोरी

प्रेम और विरह के पश्चात् कथानक का पर्यावसान मिलन में ह
है ।

उपर्युक्त विवेचन से निष्कर्ष निकलता है कि चन्द्रावली के प्रेम का सारा कथन प्रेम-विरह और मिलन में संगठित हुआ है । चन्द्रावली के प्रेम का परिचय उसके स्वगत कथनों से मिल जाता है । उसका विरहोन्माद और प्रलाप वस्तु-संगठन को सुश्रृंखलित बनाता हैं । कथानक का प्रारंभ प्रेम-परिचय से होता है, प्रेम का विकास विरह-वर्णन में हुआ है । जहाँ चन्द्रावली आत्महत्या का विचार करती है, प्रेम चरमसीमा पर पहुँच जाता है । इसके पश्चात् कथा का उतार प्रारंभ होता है और शीघ्रता के साथ श्रीकृष्ण और चन्द्रावली के मिलन के रूप में फलागम हो जाता है । प्रेम-विरह और मिलन की रसात्मकता कथा को एक श्रृंखला में बाँधे रहती है । चन्द्रावली के प्रेम, विरह और मिलन का कथानक भौतिक धरातल से उठाकर आध्यात्मिक प्रेमजगत में ले जाता है ।

9.12. चन्द्रावली में प्रेम का विशद और आदर्श रूप

स्त्री-प्रेम का विशद और आदर्श वर्णन 'चन्द्रावली' में मिलता है । रीतिकालीन प्रेम और विरह के वर्णन में जहाँ वासना की प्रधानता रहती थी, वहाँ 'चन्द्रावली' का प्रेम और विरह भक्तिमय है । रीतिकाल को सामंती व्यवस्था में परकीया प्रेम की प्रधानता थी, किंतु चन्द्रावली परकीया नहीं है । वह भी कृष्ण की पत्नी है । किंतु सामंती प्रभाव के कारण चन्द्रावली का प्रेम व्यक्ति भावना से ऊपर नहीं उठ पाया है । चन्द्रावली ऐसे पुरुष की पत्नी है, जिसकी बड़ी पत्नी पहले से है । उसकी अनुमति से चन्द्रावली अपने प्रियतम को पाती है । 'चन्द्रावली' में प्रेम विवाह के पूर्व का [illegible] जो दर्शन, गुण, श्रवण या गली और कुञ्जों में अचानक होने [illegible]राग के अंतर्गत है । इस प्रेम पर राजाओं के अन्तःपुर में [illegible]-विलास और रंग-रहस्य के प्रेम का प्रभाव है, किंतु भारतेन्दु चन्द्रावली को स्वकीया के रूप में उपस्थित कर इसे दाम्पत्य-प्रेम का रूप देने का प्रयास करते हैं । यदि इस पर से पुष्टि-मार्गीय प्रेम-लक्षणा भक्ति का आवरण हटा दिया जाय तो वह

सामंत-कालीन प्रेम ही रह जायगा । जहाँ नायक प्रेम तो कर बैठता है, किंतु बड़ी रानी के भय से मिलने में स्वतंत्र नहीं है ।

9.13. बोध प्रश्न

1. चन्द्रावली में निरुपित 'पुष्टि-मार्गीय भक्ति' पर एक निबन्ध लिखिए ।
2. सिद्ध कीजिए कि 'चन्द्रावली' प्रेम-विरह मिलन की नाटिका है ।

NOTES

NOTES

इकाई दस : भाषा और काव्य-तत्व

इकाई की रूपरेखा

10.0. उद्देश्य

10.1. प्रस्तावना

10.2. चन्द्रावली में भाषा

- 10.2.1. पात्रानुकूलता
- 10.2.2. सरलता और स्वाभाविकता
- 10.2.3. काव्य-तत्व और नाट्य-तत्व

10.3. काव्य का प्राधान्य वस्तु विन्यास के लिए साधक

- 10.3.1. प्रथम अंक
- 10.3.2. द्वितीय अंक
- 10.3.3. तृतीय अंक

10.4. चन्द्रावली में रस

10.5. चन्द्रावली का विरह प्रवासजन्य

10.6. चन्द्रावली में विरह-वर्णन की व्यापकता

10.7. विरह का सावयव शास्त्रीय निरूपण

10.8. विरह की दशाएँ

10.9. बोध प्रश्न

10.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने चन्द्रावली की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, प्रेम, भक्ति का स्वरूप आदि के बारे में अध्ययन किया । अब आप चन्द्रावली की काव्य-सौष्ठव और विरह के बारे में अध्ययन करने जा रहे हैं ।

10.1. प्रस्तावना

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप चन्द्रावली की 'काव्य-सौष्ठव' के बारे में परिचित होंगे । तत्पश्चात आप चन्द्रावली में विरह की व्यापकता के बारे में जानेंगे साथ में आप विरह की विविध दशाएँ भी जान लेते हैं ।

10.2. चन्द्रावली की भाषा

'चन्द्रावली' की भाषा काव्य-माधुरी के गुणों से व्यक्त है । उसमें ब्रज-भाषा काव्य की समस्त विशेषताएँ मिलती हैं ।

चन्द्रावली में भाषा के रूप

'चन्द्रावली' में दो प्रकार की भाषा प्रयुक्त हई है -

1. पद्य की भाषा सर्वत्र ब्रजभाषा है ।
2. गद्य की भाषा में भी खड़ीबोली के साथ ब्रजभाषा का मिश्रण है ।

10.2.1. पात्रानुकूलता

'चन्द्रावली' की कथावस्तु ब्रज और ब्रजराज कृष्ण की लीलाओं से संबंधित है । कथानक के सारे पात्र ब्रज-मंडल के हैं । यही कारण है कि खड़ीबोली बोलते-बोलते ब्रज-भाषा बोल जाते हैं । गद्य की भाषा में प्रायः सावधानी नहीं है । उसकी शुद्धि की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है । खड़ीबोली के बीच में ब्रजभाषा का प्रयोग दोष बन गया है । निम्न उदाहरण में देखिये -

'राम-राम ! मैं दौरत-दौरत हार गई या ब्रज की गऊ का हैं, साँड़ हैं, कैसी एक साथ पूँछ उठाय के मेरे संग दौरी हैं ? तापै वा निपूत सुबल को बुरो होय, और हूँ तुमड़ी बजाय कै मेरी ओर इन सबन को लहकाय दीनौ ।''

x x x

''अरी मैया खीझ रही है कै वाहि घर के कदू और हूँ काम-काज हैं, के एक हाहा ठीठी ही है ; चल उठि भोर सों यहीं पड़ी है ।''

x x x

''ब्रज में रहकर उससे वही बची होगी ; जो ईंट पत्थर की होगी ।''

x x x

''ऐसे बादलों को देखकर कौन लाज की चद्दर रख सकती है ।''

बनारस के होने के कारण भारतेन्दु का ब्रजमंडल से विशेष संपर्क नहीं था । इसलिए ब्रजभाषा के प्रयोग में कहीं-कहीं पर गड़बड़ी कर गये हैं । कुछ स्थलों पर पूरा वार्तालाप ही ब्रजभाषा के बीच में खड़ीबोली का आ गया है । निम्न उदाहरण में देखिए - **कामिनी** - ''सखी, देख बरसात भी अबकी किस धूम-धाम से आई है । मानों कामदेव ने अबलाओं को निर्बल जानकर इनको जीतने को अपनी सेना भिजवाई है । ..... वियोगिनी को तो मानों छोटा प्रलय काल ही आया है ।''

चन्द्रावली की भाषा में कहीं-कहीं पर पूर्वी प्रयोग पाये जाते हैं ।

10.2.2. सरलता और स्वाभाविकता

'चन्द्रावली' की भाषा साहित्यिक होते हुए भी चलती हुई भाषा है । भाषा के गठन में सरलता और व्यावहारिकता है । कई स्थानों पर संस्कृत तथा अरबी-फारसी के भी प्रचलित शब्द आ गये

हैं । मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग भाषा को शक्ति प्रदान करता है । उदाहरण के लिए ''मुझसे क्यों इतनी उड़ती है', 'ईंट पत्थर की बनी है', 'नैन लगना', 'जाके पाँव न फटी बिबाई, सो का जानै पीर पराई', 'भामिनी तै भौड़ी करी', 'भामिनी ते मोड़ी करो कोरी करी हीरा तै', 'कनौडी करी कूल तैं '' आदि को लिया जा सकता है । प्रस्तुत नाटिका में प्रायः सभी पात्र स्त्रियाँ हैं । इसलिए भाषा में विशेष सरलता और माधुर्य आ गया है ।

10.2.3. काव्य-तत्व और नाट्य-तत्व

अगर नाट्यकला की दृष्टि से 'चन्द्रावली' की समीक्षा करें, तो वह नाटिका के शास्त्रीय लक्षणों पर खरी उतरती है । नाट्य-शास्त्र में जो लक्षण नाटिका के बतलाये गये, उन सभी की कसौटी पर 'चन्द्रावली' नाटिका खरी उतरती है । किंतु नाटक दृश्य-काव्य है । उसका संबंध रंगमंच से है । 'चन्द्रावली' में काव्य का प्राधानता, हृदय के मार्मिक उद्‌गारों को अभिव्यक्त करने वाले स्वगत-भाषण रंगमंच की दृष्टि से दोष हैं । 'चन्द्रावली' वस्तुतः नाटकीय काव्य है । इसका पठन काव्यानन्द प्रदान करता है ।

'चन्द्रावली' में घटना-वैचित्र्य का अभाव है । यह भाव-प्रधान नाटिका है । सारा कथानक प्रेम, विरह और मिलन में समाप्त होता है । स्वगत-भाषण और कथोपकथनों के बीच-बीच में आये छोटे-छोटे पद, गीत और मधुर छन्द कथानक को सुश्रृंखलित बनाते हैं । काव्य-तत्व का प्राधान्य वस्तु-विन्यास को एक श्रृंखला में बाँध देता है । इसके अभाव में घटनाहीन कथानक में एकरसता न रहती और वस्तु-विन्यास विश्रृंखल हो जाता है । प्रस्तुत नाटिका का उद्देश्य पुष्टि-मार्गीय प्रेम लक्षणा-भक्ति का प्रतिपादन करना है, जिसमें भक्त का विरह चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है । प्रस्तुत नाटिका में काव्यात्मक स्वगत-कथन तथा धार्मिक पद विरह को उद्दीप्त कर चरमोत्कर्ष पर पहुँचा देते हैं । चन्द्रावली के मार्मिक उद्‌गारों से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण द्रवित होते हैं और उसे अपनाते हैं ।

'चन्द्रावली' का सारा कथानक स्वगत-कथन और काव्यात्मक उक्तियों के द्वारा ही विकसित होता है । कला-वैचित्र्य अथवा घटना-चक्र के अभाव के कारण कथानक की गति कुछ मन्द एवं शिथिल है, परंतु इस कमी की पूर्ति नाटिका के काव्य-तत्व और रसात्मकता से हो जाती है ।

10.3. काव्य का प्राधान्य - वस्तु विन्यास के लिए साधक

'नंदीपाठ' में 'चन्द्रावली' का कृष्ण से मिलन है । इसी मिलन-फल 'चन्द्रावली' का उद्देश्य चन्द्रावली का कृष्ण से मिलन है । इसी मिलन-फल (युगल झाँकी) में नाटककार ने कल्याण की अभिलाषा की है । कथानक का प्रारंभ प्रेम (पूर्वराग) से होता है । प्रिया जी के संकोच से कृष्ण चन्द्रावली से नहीं मिल पाते । चन्द्रावली का विरह बढ़ता हुआ उन्माद और प्रलाप की अवस्था तक पहुँच जाता है । पुष्टिमार्गीय प्रेम-लक्षणा भक्ति का चरम-विकास भी यही है । चन्द्रावली के अनन्य प्रेम से द्रवित होकर कृष्ण दर्शन देते हैं । प्रेम विरह और मिलन का यह कथानक काव्य-तत्व से ही सुसंगठित होता है । कथानक का प्रारंभ नारद द्वारा चन्द्रावली के अनन्य और विलक्षण प्रेम के परिचय से होता है । नारद की वीणा से संबंधित लम्बी कविता काव्य-माधुरी से युक्त है, लेकिन प्रेमोत्कर्ष में उसका कोई योग नहीं है ।

10.3.1. प्रथम अंक

इस अंक में 'छिपाये छिपत न नयन लगे' पद में ललिता कह देती है कि 'चन्द्रावली' कृष्ण के प्रेम में पगी है । चन्द्रावली छिपाना चाहती है, किन्तु ललिता निम्न सवैया में स्पष्ट कर देती है कि भेद छिपाने से उसे प्रिय-मिलन का आनन्द न मिल सकेगा -

हम भेद न जानिहैं जो पै कछू,
औ दुराव सखी हम में परिहै ।

कहि कौन मिलैहै पियारे पिये,
पुनि कारज कासों सबै सरिहै ।।

यह पद चन्द्रावली के हृदय में ललिता के प्रति विश्वास उत्पन्न कर देता है और वह निम्न पदों में अपना प्रेम प्रकट कर देती है -

सखी ये नैना बहुत बुरे ।
तबसे भये पराये हरि सों जब सों जाइ जुरे ।।
x x x
नैना वह छवि नाहिन भूले ।
दया भरी चहुँ दिशि की चितबनि नयन कमल दल फूले ।
x x x
मनमोहन तें बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवति हैं ।

उपर्युक्त पद्यांश चन्द्रावली के हृदय के अनन्य-प्रेम को प्रकट करने में सहायक है ।

10.3.2. दूसरे अंक

इस अंक में काव्य-माधुरी युक्त की भरमार है । चन्द्रावली की वियोग-जन्य वेदना, विरह-उन्माद, प्रलाप आदि की अभिव्यक्ति इतनी मार्मिकता से गद्य में नहीं हो सकती थी । प्रत्येक सवैया चन्द्रावली के विरह को विकसित करता है ।

''जग जानत कौन है प्रेम बिथा'' में चन्द्रावली जग की दशा पर रोती है, जो प्रेम-व्यथा का महत्व नहीं आँकती । ऐसी दशा में वह 'कासों कहे, कहे, कौन पुनि माने बैठि रही सब रोय' की स्थिति में हो जाती है । चन्द्रावली को सदैव ''जिय सूधी चितौनि को साधे रही'' किन्तु उसके प्रियतम ''सदा बातन में भी अनखाते रहे ।'' वह प्रियतम को उपालम्भ भी देती है कि यदि वे मिलने में स्वतंत्र नहीं थे, तो प्रेम करके उसे अपनाया ही क्यों ?

पहिले मुसुकाय लजाय कछू,
क्यों चितै मुरि मो तन छाम किया ।
x x x
मन माहि जो तोरन हूँ की हुती,
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो ।।
x x x
कित को ढरिगो वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ ।

पहिले अपनाई बढ़ाइकै नेह,
न रूसिबे में अब लाजत हौ ।

इस अंक के सारे काव्यांश स्वगत कथन के रूप में हैं । इसमें चन्द्रावली का विरह विकास पाता हुआ चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाता है । वह वन, लता और कुंजों से प्रियतम का पता पूछती । इस प्रसंग में निम्न पद सार्थक हैं -

अहो-अहो बन के रूख कहूँ देख्यो पिय प्यारे ।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहो वह कितै सिधारो ।।
अहो कदम्ब, अहो, अम्ब-निम्ब अहो बकुल तमाला ।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्दलाला ।।
x x x
अरे पौन सुख-भौन सबै थल गौन तिहारो ।
क्यों न कहो राधिका रौंन सौं मौन निवारौ ।।

10.3.3. तीसरे अंक

इस अंक के वर्षा-वर्णन में चन्द्रावली मृत्यु की दशा को पहुँच जाती है । वह जीवित रहना नहीं चाहती । इसमें माधवी और चन्द्रावली के कहे हुए काव्यात्मक अंश मुख्य-संवेदना को और अधिक तीव्रता प्रदान करते हैं । चतुर्थ अंक में योगिन का गाया

हुआ लम्बा पद उसके यथार्थ स्वरूप को प्रकट करने में सहायक है -

शोभा लखि मोहत नारी-नर वारि फेरि जल सबहिं पियैं ।
नागर मनमथ अलख जगावत गावत काँधे बीन लियैं ।।

इसी अंक में यमुना का वर्णन काव्य की कसौटी पर सुंदर होने पर भी वस्तु-संविधान की दृष्टि से निरर्थक है । आगे इसी प्रकार योगिन का गाया हुआ लम्बा गीत 'पचि मरत वृथा सब लोग जाग सिर धारी' भी वस्तु-संविधान की दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं रखता । काव्य की दृष्टि से उसका महत्व अवश्य है । आगे के सारे पद वस्तु-विन्यास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । 'जोगिन रूप सुधा की प्यासी' पद से स्पष्ट हो जाता है कि योगिन वेश में श्रीकृष्ण ही हैं । चन्द्रावली के गाये हुए पद उसके हृदय की प्रेम-विह्वलता और प्रेम-अनन्यता को प्रकट करते हैं । 'नीके निरखी निहारि नैन भरि नैनन को फल आज लहौरी' तथा 'परमारथ' स्वास्थ पद पुष्टिमार्गीय भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं । इस प्रकार स्पष्ट है कि 'चन्द्रावली' के काव्य-तत्व का आधिक्य वस्तु-विन्यास के विकास में साधक बन कर उपस्थित हुआ है । उसकी काव्य माधुरी अनूठी है ।

10.4. चन्द्रावली में रस

'चन्द्रावली' विरह प्रधान प्रेम नाटिका है । इसमें विरह का दोहरा महत्व है । प्रथम तो चन्द्रावली का विरह-वर्णन भारतेन्दु जी की भक्ति-भावना का प्रतीक है और दूसरे वह एक सामान्य नारी का व्यापक एवं गम्भीर विरह बन गया है ।

'चन्द्रावली का विरह वर्णन भारतेन्दु के व्यक्तिगत प्रेम और रागानुरागा भक्ति का प्रतिबिम्ब है । बल्लभ संप्रदाय की जिस पुष्टिमार्गीय रागानुरागा भक्ति के भारतेन्दु उपासक थे, उसमें विरह-भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है । इस विरह भक्ति का प्रतिपादन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं -

''हमारे प्रेमिन हमसों हमारो विरह प्यारो है ।''

चन्द्रावली विरह आसक्ति में ही कृष्ण को पाती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि विरह भगवान् को अधिक प्रिय है । चन्द्रावली का विरह इतना व्यापक है कि वह भक्त की भगवान के समक्ष करुणा भरी पुकार बन गया है । अंत में चन्द्रावली की विरह-वेदना से श्रीकृष्ण द्रवित होते हैं, और चन्द्रावली को मिलन के रूप में फल की प्राप्ति होती है । चन्द्रावली रूपी विरहिणी आत्मा परमात्मा से पृथक होकर छटपटाती है । अंत में परमात्मारूप कृष्ण प्रकट होकर उसे अपने में लीन कर लेते हैं । यहीं रागानुरागा भक्ति का प्रतिपादन हो जाता है । रागानुरागा भक्ति में विरह का कितना अधिक महत्व है, वह श्रीकृष्ण के चन्द्रावली से निम्न कथन से स्पष्ट हो रहा है -

"प्यारी ! मैं निष्ठुर नहीं हूँ । मैं तो अपने प्रेमिन को बिना मोल को दास हूँ । परंतु मोहिं निहचै है कै हमारे प्रेमिन हमसों हूँ हमारो विरह प्यारो है ।"

'चन्द्रावली' का विरह जहाँ रागानुरागा भक्ति के अनुकूल है वहाँ रीतिकालीन शास्त्रीय परंपरा के अंतर्गत वह हिन्दी के विरह-काव्य में श्रेष्ठ स्थान भी रखता है । वह परंपरागत शास्त्रीय-विरह-वर्णन का सावयव रूप उपस्थित करता है । उसकी अनुभूति और मार्मिकता हृदय में गांसी के तीर के समान चुभ जाती है ।

10.5. चन्द्रावली का विरह प्रवासजन्य

शास्त्रीय परंपरा में विरह चार प्रकार के माने गये हैं - पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण । गुण श्रवण, चित्र-दर्शन या प्रत्यक्ष मिलन और दर्शन से नायक-नायिका के हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाता है और फिर मिलन में व्यवधान पड़ने से जो तड़पन होती है, उसे पूर्वराग जनित विरह मानते हैं । मान के अंतर्गत नायक और नायिका में क्षणिक अनबन हो जाती है । वे समीप होते हुए भी एक-दूसरे से पृथक रहते हैं । नायक के विदेश चले जाने पर

नायिका को जो विरह होता है, वह प्रवास-जनित विरह है । विरह के आधिक्य में नायक एवं नायिका की दशा चिन्ता-जनक होकर मरण के समीप पहुँच जाती है, किंतु मिलन को आशा बनी रहती है । इसे करुण विरह कहते हैं । 'चन्द्रावली' में विरह के रूप में विद्वानों में मतभेद है । **बाबू ब्रजरत्नदास** इसे पूर्वराग के अंतर्गत मानते हैं । निम्न उक्ति का उदाहरण लेकर कुछ लोग 'चन्द्रावली' के विरह को **मान** के अंतर्गत मानते हैं -

कित कों ढरिगो वह प्यार सबै,
क्यों रुखाई नई यह साजत हौ ।
'हरिचन्द' भए हो कहा के कहा,
अब बोलिबे में नहिं लाजत हौ ।
नित को मिलनों तो किनारे रह्यो,
मुख देखत ही दुरि भागत हौ ।
पहले अपनाय बढ़ाइ कै नेह,
न रूसिबे में अब लाजत हौ ।।

यह उक्ति पूर्व मिलन का स्पष्ट संकेत देती है क्योंकि चन्द्रावली के लिए प्रियतम की यह नई रुप ही है । उसके प्रियतम का वह प्यार कहाँ ढंक गया, जो मिलन के समय था । उनमें इतना परिवर्तन हो गया, कि बोलते भी नहीं, उसका मुख देखते ही भाग जाते हैं । वे पहले अपना चुके हैं । किन्तु अब रूठने में उनको लाज नहीं आती । यहाँ रूठने के शब्द मात्र से ही इस उक्ति के आधार पर चन्द्रावली के विरह को मान के अंतर्गत नहीं मान सकते हैं । चन्द्रावली से कृष्ण का मिलन हो चुका था, किन्तु वे किसी संकोच या परिस्थितियों के कारण नहीं मिल पाते और दूर रहते हैं । अतः यह विरह प्रवास के अंतर्गत ही है ।

चन्द्रावली के निम्न कथनों से स्पष्ट है कि उसका कृष्ण से मिलन हो चुका था -

नैना वह छबि नाहिंन भूले ।
दया भरी चहुँ दिशि की चितवनि नैन-कमल दल फूले ।।

वह आवनि, वह हँसनि छबीली वह मुसकनि चित चोरे ।
वह बतरानि, मुरन हरि की वह, वह देखन चहुँ ओरे ।।

x x x

मन मोहन तैं बिछुरी जब सों,
तन आँसुन सों सदा धोवति हैं ।

x x x

पहिले मुसुकाइ लजाय कछू,
क्यों चितै मुरि मो तम छाम कियो ।

पुनि नैन लगाइ बढ़ाइ कै प्रीति,
निवाहन को क्यों कलाम कियो ।
'हरिचन्द' भये निरमोही इतै,
निज नेह को यों परिनाम कियो ।
मन माहिं जो तारेन हूँ की हुती,
अपनाइकै क्यों बदनाम कियो ।।

x x x

अपनावत सोच विचार तबै,
जलपान कै पूछनी जाति नहीं ।

x x x

बिछुरे पिए के जग सूनो भयो,

x x x

अब का करिए कहि देखिए का ।
हमहिं बिसारी अनत रहे मोहन, औरै चाल गही ।

x x x

''हाय इन घरवालों और बाहर वालों के पीछे कभी उनसे रो-रोकर अपनी विपत भी न सुनाई ।''

''सखी बेऊ का करें । प्रिया जी के डर सों कछु नहीं कर सकें ।''

चन्द्रावली की उपर्युक्त उक्तियों से स्पष्ट है कि उसका कृष्ण से मिलन हो चुका था । उसके नेत्र मिलन-छवि नहीं भूल सके ।

उनकी 'आबनि' और 'बत रानि' उसके हृदय को चुरा रही है । वह मनमोहन से मिलकर बिछुड़ चुकी है । वह यह भी कहती है कि यदि वे प्रेम करने में स्वतंत्र नहीं थे तो उसे अपनाकर बदनाम क्यों किया ? उन्हें सोच-विचार कर अपनाना था । मोहन उसको भुलाकर अन्यत्र चले गये हैं । अतः चन्द्रावली का विरह अवश्य ही प्रवास-जन्य है । प्रवास के लिये यह आवश्यक नहीं कि नायक दूर-देश में ही जाय । कृष्ण भी मथुरा में रहकर गोपियों से दूर नहीं थे । वे वहाँ जा सकती थीं, किंतु परिस्थितियों के कारण निकट होकर भी मिल नहीं पातीं । चन्द्रावली और कृष्ण के मिलन में भी यही परिस्थितियाँ हैं । कृष्ण को प्रिया जी का संकोच है । चन्द्रावली को भी घर वालों तथा बाहर वालों की चर्चा का भय है ।

10.6. चन्द्रावली में विरह-वर्णन की व्यापकता

चन्द्रावली का विरह-वर्णन अत्यंत ही कारुणिक है । यह वर्णन काव्य की दृष्टि से उच्च कोटि का है । विष्कम्भक में चन्द्रावली के प्रेम का उल्लेख मिलता है । प्रथम अंक में चन्द्रावली और ललिता के वार्तालाप में प्रकट हो जाता है कि उसका कृष्ण से मिलन हो चुका है, किंतु परिस्थितियों ने वियोग की दीवार खड़ी कर दी । द्वितीय और तृतीय अंक चन्द्रावली की विरह-वेदना और प्रलाप से ही भरे हुए हैं । चतुर्थ अंक में भी विरहावस्था का ही चित्रण है । प्रिय-मिलन तो कथानक का अंत होते-होते होता है । इस प्रकार चन्द्रावली में आद्योपरांत वियोग की वेगवती धारा प्रवाहित हो रही है ।

10.7. विरह का सावयव शास्त्रीय निरूपण

'चन्द्रावली' का विरह शास्त्रीय दृष्टि से सर्वांगीण है । विरह को समस्त दशाओं, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक भाव, संचारी भाव आदि का सम्यक् निरूपण है ।

स्थायी भाव - रति-चन्द्रावली और कृष्ण एक दूसरे पर अनुरक्त हैं ।
आलम्बन - श्रीकृष्ण ।
आश्रय - चन्द्रावली ।
उद्दीपन - सखियों का वार्तालाप, वर्षा-वर्णन, ऋतु वर्णन आदि ।
अनुभाव - चन्द्रावली की शारीरिक चेष्टाएँ और प्रलाप ।
सात्विक भाव - चन्द्रावली का मुख पीला पड़ना, अश्रु आना आदि सात्विक भाव है ।
संचारी भाव - उग्रता, स्मृति, धृति, जड़ता, उद्वेग, शंका, मूर्च्छा आदि ।

उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन सर्वथा रीतिकालीन परिपाटी में है । वर्षा और झूला का प्रसंग उद्दीपन के रूप में प्रस्तुत किया गया । वर्षा के उपकरण चन्द्रावली के विरह को उद्दीप्त कर देते है । काले बादल कृष्ण, इन्द्र-धनुष वनमाल, दंत पंक्तियाँ, मोतियों की माला और मोरों की ध्वनि मुरली नाद का स्मरण करा देती है -

देखि धनस्याम धनस्याम की सुरति करि,
जियमें विरह-घटा-धहरि उठै ।
ज्योंही इन्द्रधनु-बगमाल देखि बनमाल,
मोती लट पी की जिय लहरि-लहरि उठै ।
'हरिचन्द्र' मोर-पिक-धुनि सुनि वंशी नाद,
बाँकी छवि बार-बार छहरि-छहरि उठै ।
देखि-देखि दामिनी की दुगुन दमक पीत,
पट छोर मेरे हिय फहरि-फहरि उठै ।

विरहाधिक्य में चन्द्रावली जड़-चेतन का भेद भूल जाती है । वह भँवर, हंस, सारस, कोकिल, पपीहा से अनुनय क़रती है कि वे कृष्ण को उससे मिला दें -

अहो भँवर तुम श्याम रेंग मोहन ब्रतधारी ।
क्यों न कहा वा निठुर स्याम सो दसा हमारी ।।

कभी वह जायसी की नागमती और हरिऔध की राधा की तरह वायु से अपने प्रियतम के पास संदेश भेजती है -

अरे ! पौन सुख भौन सबै थल गौन तिहारो ।
क्यों न कहो राधिका रौन सो मौन निवारौ ।।

वह कदम्ब, निम्ब, अम्ब और बकुल, तमाल से पिय्रतम का पता पूछती है -

अहो-अहो बन के रूख कहुँ देख्यी पिय प्यारो ।
मेरो हाथ छुड़ाइ कहो वह कितै सिधारो ।।
अहो कदम्ब, अहो निम्ब, अहो बकुल तमाला ।
तुम देख्यो कहुँ मन मोहन सुन्दर नन्दलाला ।।

अनुभव -

अश्रु, पलक आदि अनुभावों का कई स्थानों पर सुंदर वर्णन मिलता है । निम्न उदाहरण में एक साथ कई अनुभाव तथा विरह-दशाओं का समावेश हो गया है -

छरी सी, छकी सी, जड़ भई सी, जकी सी,
हारी सी, बिकी सी सो सबही धरी रहैं ।
बोले ते न बोले, दृग खोलै नहिं, डोलै बैठि,
एक-टक देखै, सो सिखौना सी धरी रहै ।।
हरिचन्द औरों घबराये समुझाए हाय,
हिचकि-हिचकि रौवे जीवित मरी रहै ।।
याद आए सखिन रौवावै दुःख कहि-कहि,
तो लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै ।।

संचारी भाव -

जड़ता - "तू केहि चिजवहि चकित मृगी सी ।"
स्मृति - "देखि घनश्याम घनश्याम की सुरति करि ।"
उग्रता - "अच्छे खासे अनूठे निर्लज्ज हो ।"

10.8. विरह की दशाएँ

विरह की निम्नलिखित दस अवस्थाएँ मानी गई हैं -

1.	अभिलाषा	6.	प्रलाप
2.	चिन्ता	7.	उन्माद
3.	स्मृति	8.	जड़ता
4.	गुण-कथन	9.	मूर्च्छा
5.	उद्वेग	10.	मरण ।

अभिलाषा

विरह में प्रिय-दर्शन और मिलन की अभिलाषा सदैव बनी रहती है -

बलि सांवरी सूरत मोहिन मूरत,
आँखिन कौं कबौं आइ दिखाइए ।
चातक सी मरैं प्यासी परी,
इन्हैं पानिप रूप-सुधा कबौं प्याइए ।।
पीट-पटै बिजुरी से कबौ,
'हरिचन्द' जू आइ इतै चमकाइए ।
इतहूँ कबौं आइके आनन्द के घन,
नेह को मेह पिया बरसाइए ।।

चिन्ता

प्राण बचैं केहि भाँतिन सौं,
तरसै जब दूर से देखिये कौं मुख ।।

स्मृति और गुण कथन

वह आवनि वह हँसनि छबीली, वह मुसकनि चित चौरें ।
वह बतरानि मुरनि हरि की वह, वह देखन चहुँ कोरैं ।।

उद्वेग और प्रलाप

उद्वेग और प्रलाप से तो सारी नाटिका भरी हुई है । चन्द्रावली के सारे स्वगत-कथन उद्वेग और प्रलाप के अंतर्गत लिये जा सकते हैं ।

उन्माद और जड़ता

"अरे छलियाँ कहाँ छिपा है ? .... अरे वृक्षों बताओं तो मेरा लुटेरा कहाँ छिपा है ? क्यों रे मोरों इस समय नहीं बोलते ? नहीं तो रात को बोज-बोल के प्राण खाये जाते थे । कहो, न वह कहाँ छिपा है ?

अहो कदम्ब, अहो अम्ब-निम्ब, अहो बकुल तभाला ।
तुम देख्यो कहुँ मनमोहन सुन्दर नन्दलाला ।।

मूर्च्छा

याद आए सखिन रोबाबैं दुख कहि-कहि,
तौ लौं सुख पावै जौ लौं मुरछि परी रहै ।

मरण

बिना प्राण प्यारे भये दरस तुम्हारे हाय,
देखि लीजौ आँखे ये खुली ही रह जायँगी ।

विरही अपने प्रेम पात्र को उपालम्भ भी देते हैं । चन्द्रावली की काव्यात्मक उक्तियाँ तथा स्वगत-कथन उपालम्भों से भरे हुए हैं ।

10.9. बोध प्रश्न

1. चन्द्रवली की भाव-पक्ष और कला-पक्ष के बारे में वर्णन कीजिए ।
2. भारतेन्दु जी ने चन्द्रावली में विरह-वर्णन की व्यापकता कैसे व्यक्त किया है - सविस्तार लिखिए ।

NOTES

इकाई ग्यारह : नाटक का स्वरूप और विवेचन

इकाई की रूपरेखा

11.0. उद्देश्य

11.1. प्रस्तावना

11.2. भूमिका

11.3. नाटक : व्युत्पत्ति और अर्थ

11.4. नाटक क्या है

11.5. नाटक के लक्षण

11.6. नाटक के तत्व

- 11.6.1. भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्व
- 11.6.2. वस्तु
- 11.6.3. पात्र
- 11.6.4. रस
- 11.6.5. अभिनय
- 11.6.6. वृत्तियाँ

11.7. पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्व

- 11.7.1. कथावस्तु
- 11.7.2. पात्र और चरित्र चित्रण
- 11.7.3. कथोपकथन

11.7.4. देश-काल

11.7.5. भाषा-शैली

11.7.6. उद्देश्य

11.8. भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोण में समन्वय

11.9. नाटक और रंगमंच

11.10. प्राचीन एवं नवीन नाटकों में अंतर

11.11. बोध प्रश्न

11.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने चन्द्रावली नाटिका के बारे में अध्ययन किया तथा 'नाटिका' का लक्षण, चन्द्रावली की कथावस्तु पुष्टि-मार्गीय प्रेम के बारे में अध्ययन किया । अब आप नाटक के बारे में जानेंगे ।

नाटक को समझने के लिए प्रारंभ में **नाटक** शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ को जानलेना आवश्यक है । अतः इस इकाई में नाटक की व्युत्पत्ति एवं अर्थ पर प्रकाश डालते हुए नाटक को समझाने का प्रयास किया है । नाटक प्राचीन साहित्यिक विधा है, अतः संस्कृत नाट्याचार्यों ने नाटक के लक्षण प्रस्तुत किए है, जिससे नाटक को समझने में आसानी होगी । भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के विभिन्न तत्व दिये है, उनकी चर्चा करते हुए उनका समान्वित रूप भी प्रस्तुत किया है, जिसके आधार पर नाटक की समीक्षा, विश्लेषण किया जा सके । नाटक दृश्यकाव्य होने के कारण उसका रंगमंच से संबंध अनिवार्य है, अतः नाटक और रंगमंच के संबंध और उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए नाटक के स्वरूप एवं विवेचन की प्रस्तुती की है ।

11.1. प्रस्तावना

इस इकाई में आप 'नाटक' शब्द की व्युत्पत्ति, नाटक के लक्षण, भारतीय और पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्व के बारे में अध्ययन करने जा रहे है ।

11.2. भूमिका

समस्त साहित्यिक अभिव्यक्तियों में नाटक का स्थान सर्वोपरी हैं । उसमें काव्यानन्द के साथ अन्य कलाओं का भी आनंद प्राप्त हो जाता है । इसमें जीवन का सम्पूर्ण और मूर्त रूप अवतीर्ण होता है । नाटक में लेखक का निजी व्यक्तित्व पृथक उभर कर नहीं आता, वह नाटक के पात्रों में ही समाया रहता है ।

इस विशेषता के कारण साहित्य में नाटक विशेष सम्मान के भागी हो जाते है । संगीत, काव्य, कथोपकथन, नृत्य, अभिनय, दृश्य आदि से संयुक्त नाटक-साहित्य साहित्य का ऐसा अंग है, जिसमें कर्ण और नेत्र-संबंधी इन्द्रियों का आनन्द देने वाली समस्त कलाओं का अभिनिवेश करना है । किन्तु नाटक का सबसे अधिक महत्व तो इसमें है कि वह जीवन की अनुकृति है ।

11.3. नाटक : व्युत्पत्ति एवं अर्थ

विभिन्न विद्वानों ने 'नाटक' या 'नाट्य' शब्द की व्याख्या करते हुए उसकी व्युत्पत्ति परिभाषा एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश डाला है । पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से सिद्ध की है । जबकि 'नाट्य-दर्पण' की रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी है, बेबर और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्', 'नाट्' आदि धातुओं में 'नृत' दोनों धातुओं का प्रयोग मिलता है । अतः 'नट्', को विकृत रूप मानना उचित नहीं ।

धनंजय ने अपने दशरूपक में नृत्त और नृत्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि नृत् ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित होता है । अतः हम कह सकते हैं कि नृत् और नृत्य में विशेष अंतर नहीं है - उन दोनों में ही ताल-लय और भाव का आश्रय लिया जाता है, जबकि नट्, नाट्य और नाटक में अनुकरण तथा अभिनय की प्रमुखता होती है । नृत्य नाट्य का एक अंग हो सकता है, किन्तु नाट्य नृत्य का नहीं, स्पष्ट है कि 'नाटक' नृत्य से अधिक व्यापक अर्थ को सूचित करता है ।

'नाटक' के पर्यायवाची के रूप में 'रूपक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है । नाटक में मूल पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं आदि का अनुकरण मात्र अपेक्षित है, जबकि रूपक में उसके साथ-साथ मूल पात्रों के रूप का आरोपण भी आवश्यक है । 'नाटक' शब्द में गति एवं

क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है, जबकि रूपक में स्थूल रूप-वेष-भूषा आदि को अधिक महत्व दिया जाता है । संस्कृत के आचार्यों ने रूपक को नाटक से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसके अट्ठारह भेद किये हैं जिनमें से एक भेद नाटक भी है । अंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची ड्रामा (Drama) शब्द है । आइवर ब्राउन ने ड्रामा का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसका सम्बन्ध युनानी के एक शब्द विशेष से स्थापित किया है जिसका अर्थ होता है 'कृत' या 'किया हुआ' । उसी को कार्य कहते है । वस्तुतः पाश्चात्य नाटकों में कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, किन्तु अभारतीय नाटकों में अभिनय कला या, रस को प्रमुखता दी जाती है । इसी दृष्टिकोण भेद के कारण दोनों के स्वरूप, लक्षण एवं तत्वों में अन्तर मिलता है ।

11.4. नाटक क्या है ?

नाटक के सम्बन्ध में पाश्चात्य साहित्य में सबसे पहले अरस्तु ने विचार किया, अरस्तु का कहना था कि कला अनुकृति पर निर्भर करती है । उन्होंने अनुकृति के लिए जो युनानी शब्द दिया उसका अंग्रेजी पर्याय इमीटेशन (Imitation) माना जाता है । अनुकृति का यह सिद्धांत नाटकों के सम्बन्ध में अपने यहाँ भी मान्य है । धनंजय ने 'दशरूपक' में लिखा भी है **'अवस्थानुकृति नाट्यम'** - अर्थात् अवस्था की अनुकृति को नाटक कहते है, अरस्तु ने अनुकृति शब्द की ठीक ठीक व्याख्या नहीं दी, फलतः आलोचकों में बड़ा विवाद खड़ा हुआ । पर अन्त में यह मान्य हुआ था अनुकृति का अर्थ नकल करना नहीं प्रकृति का अनुकरण करना है । हमारे शब्दों में यदि कहा जाय तो, नाटक एक प्रकार का वह संग्राहक शीशा है जो प्रकाश की किरण को बृहद् करके और समेट तथा दबा करके प्रकाश की लपट में परिणत कर देता है ।

बेनेटियर ने प्रतिपादित किया है कि 'नाटक में इच्छा अथवा संकल्प का प्रदर्शन मिलता है ।' उपन्यास में इसका उल्टा होना

है, उपन्यास में बाहर का हम पर प्रभाव पड़ता है, उसका चित्र दिया जाता है ।

बिना प्रेक्षकों के तथा बिना अभिनेताओं के नाटक अकल्पनीय ही है, इसी कारण नाटककार को जहाँ प्रेक्षकों का ध्यान रखना पड़ता है वहाँ अभिनेताओं भी शक्ति और योग्यताओं का भी ।

नाटक में जीवन-सम्बन्धी विचार अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किये जाते है । इनको प्रकट करने की प्रणाली में अप्रत्याशित का उपयोग प्रधान है । जिसकी आशा नहीं की जाती ऐसी कोई घटना अनायास ही उपस्थित होनी चाहिए और उससे भावों तथा विचारों को एक धक्का लगना चाहिये । इसलिए नाटकों में ऐसे स्थलों और स्थितियों का विचार पूर्वक नियोजन होना चाहिए, जो चाहे तो अद्‌भुत होने के कारण या बिलकुल नये होने के कारण या किसी अनोखी विशेषता के कारण या परम्परा या रूढ़ी से एकदम भिन्न है, प्रेक्षकों को आश्चर्य-चकित कर दे, अवाक् कर दे और भावोत्तेजना से व्यग्र कर दें ।

11.5. नाटक के लक्षण

आज तक नाटक के विभिन्न आचार्यों द्वारा अनेक प्रकार के लक्षण दिये गये है । संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों एवं आचार्यों के प्रयास इस दिशा में स्तुत्य हैं । पूर्ववर्ती आचार्यों एवं उनकी सर्जनाओं के अनुपलब्ध होने के कारण आचार्य भरत से ही लक्षणों की यह परम्परा मिलती है । नाटक का स्वरूपगत लक्षण देते हुए भरतमुति ने अपने नाट्य शास्त्र में लिखा है, ''**यो..... स्वभावों लोकस्य सुखदुख समन्वितः । सो...गाद्यभिनयोपतो नाट्यमित्यभिधीयते** ।'' अर्थात् जिसमें स्वभाव से ही लोक का सख-दुख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते है ।

भरत के बाद आचार्य अभिनव गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा है, **''प्रत्यक्ष कल्पानुध्यवसाय विषयो लोकप्रसिद्धः सत्यासत्यविविलक्षपात्वा न यच्छब्दवाच्यों लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानाश्स्पर्ध्यमाणोऽ.....र्थो नाट्यम् ।''** अर्थात् नाटक वह दृश्यकाव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धी प्रदान करता है ।

इसी प्रकार महिम भट्ट का मत है कि, अनुभव विभावादि के वर्णन से जब रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते है और जब काव्य को गीतादि से रंजित एवं अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तब वह नाटक का स्वरूप धारण कर लेता है ।

'नाट्य दर्पण' के आचार्य रामचंद गुणचन्द्र नाटकों को चतुष्फलों का दाता मानते हैं । साथ ही उसी प्रकृतियों एवं सन्धियों आदि का पालन अपरिहार्य मानते है ।

नाटक के लक्षणों का विषद विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण आचार्य विश्वनाथ ने किया है ।

* उन्होंने साहित्य दर्पण में लिखा है, नाटक का वृत्त (कथा) प्रसिद्ध हो, उसमें पाँचों सन्धियों का समन्वय होना चाहिए ।
* उनमें विलास, समृद्धि आदि गुणों तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिये ।
* उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होते है ।
* पुराणादि से प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरूष नाटक का नायक होता है ।
* श्रृंगार या वीर इनमें से कोई एक रस प्रधान होता है - अन्य सब रस अंगभूत रहते है ।
* उसे निर्वहण सन्धि में अत्यंत अद्भुत (कौतुहल-वर्द्धक) बनाना चाहिए । इसमें चार या पाँच पुरूष प्रधान कार्य के

साधन में रत रहने चाहिए तथा गौ की पूँछ के अग्र भाग के समान इसकी रचनी होनी चाहिए ।''

नाटक के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करते समय सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे आचार्यों ने **'ख्यात वृत्त'** पर इतना अधिक बल क्यों दिया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है, नाटक की रचना उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को ही नहीं, निम्न वर्ग के अशिक्षित जन-समुदाय को भी ध्यान में रखकर हो जाती है, अतः **'ख्यात वृत्त'** होने पर वे उसे अधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते है । दूसरे कल्पित आचार्यों के नये-नये पात्रों के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गंभीरता से नहीं हो सकता जितना कि ख्यात नायकों **राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, अशोक, प्रताप** आदि से हो सकता है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने 'कार्य' को महत्व देने रसानुभूति में हमारे पूर्व संस्कार एवं प्रारंभिक धारणाओं का भी गहरा योग होता है । महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का संचार हमारे हृदय में हो जाता है, वह किसी कल्पित भानुप्रताप के दर्शन से नहीं होता । कल्पित पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ अंश देख लेने के बाद आगे चलकर होता है, फलतः हमारी अनुभूति में पूर्ण सघनता आने में देर लगती है ।

भारतीय आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को उद्देश्य मानते हुए नाटक के लक्षणों का प्रतिपादन किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य को महत्व देते हुए संघर्ष, संकलन-त्रय, दुखान्त , सुखान्त आदि लक्षणों की प्रमुखता दी है ।

11.6. नाटक के तत्व

जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि पाश्चात्य नाटकों में **'कार्य'** को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है जबकि भारतीय नाटकों में **'रस'** पर मूल दृष्टि रही है । ऐसी स्थिति में पौर्वात्य एवं पाश्चात्य आचार्यों द्वारा निरूपित नाटक के तत्वों पर

पहले अलग-अलग विवेचन प्रस्तुत किया जायेगा और अन्त में दोनों दृष्टिकोणों से समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जायेगा ।

11.6.1. भारतीय आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्व

भरतमुनि ने अपने **'नाट्यशास्त्र'** में नाटक की उत्पत्ति के विषय में लिखा है - एक बार वैवस्वतमनु के दूसरे युग में लोग बहुत दुखी हुए इस पर इन्द्र तथा अन्य देवताओं ने जाकर **ब्रह्माजी** से प्रार्थना की कि आप मनोविनोद का कोई ऐसा साधन उत्पन्न कीजिए जिससे सबका रंजन हो सके । इस पर **ब्रह्माजी** ने **चारों वेदों** को बुलाया और उनकी सहायता से **'पंचम वेद'** नाटक की रचना की । इसके लिए उन्होंने **ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गान, यजुर्वेद से नाट्य और अथर्वणवेद से रस लिया** । भरत मुनि के प्रस्तुत कथन से नाटक की उत्पत्ति पर चाहे प्रकाश पड़ता हो, चाहे वर्णन पड़ता हो, किन्तु एक बात स्पष्ट हो जाती है, और वह यह कि प्रकारान्तर से भरत ने नाटक के चार प्रमुख तत्वों **संवाद, गान नाट्य** और **रस** की ओर संकेत कर दिया है । भरत के परवर्ती अधिकांश आचार्यों ने **वस्तु, अभिनेता** और **रस, नाटक** के तीन तत्वों को ही स्वीकार किया । कुछ आचार्यों ने **'अभिनय'** और **'वृत्ति'** इन दो तत्वों का समावेश करके नाटक के तत्वों की संख्या पाँच तक बढ़ा दी । यहाँ पर इन्हीं पाँच तत्वों पर विचार किया जायेगा । अतः वे पाँच तत्व है **(1) वस्तु (2) पात्र (3) रस (4) अभिनय (5) वृत्ति**

11.6.2. वस्तु

नाटक की कहानी को वस्तु, कथावस्तु अथवा कथानक नाम दिया गया है । कथावस्तु दो प्रकार की होती है । **1. अधिकारिक 2. प्रासंगिक** । जो कथा नाटक में आदि से अन्त तक चलती है तथा जो नाटक से सम्बद्ध होती है, उसे आधिकारिक कथा कहते है । प्रासंगिक कथा का संबंध गौण पात्रों से होता है, इसका कार्य

मुख्य कथा के विकास में योग देना तथा उसका सौंदर्यवर्धन करना होता है ।

प्रासंगिक कथा फिर दो प्रकार की होती है :- **1. पताका 2. प्रकरी** । जो प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के साथ-साथ अन्त तक चलती रहती है, उसे **पताका** तथा जो बीच में ही समाह हो जाती है, उसे **प्रकरी** कहते है । विषय की दृष्टि से भी कथावस्तु के भेद किये गये है - **1. प्रख्यात** : जिसका आधार इतिहास, पुराण या लोक-आख्यान होता है, **2. उत्पाद्य** - जो नाटककार द्वारा कल्पित होता है । **3. मिश्र** - जिसमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण किया जाता है ।

कार्य-व्यापार की दृष्टि से नाटक के कथानक को पाँच अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है ।

1. आरम्भ : यह कथानक का आरम्भिक भाग होता है जिसमें नायक की इच्छाओं, उद्देश्यों, अथवा सिद्धान्तों अथवा इन सभी की ओर संकेत किया जाता है ।

2. यत्न : इसमें नायक अपनी इच्छाओं उद्देश्यों अथवा सिद्धान्तों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता देखा जाता है ।

3. प्राप्त्याशा : यहाँ पर आकर नाटक के मार्ग की कठिनाइयाँ दूर हो जाती है, और उसके लिए फल-प्राप्ति की आशा बंधने लगती है ।

4. नियताप्ति : इसमें नायक के लिए फल-प्राप्ति असंदिग्ध हो जाती है ।

5. फलागम : यहाँ पर नायक की अन्तिम संपूर्ण फल की सिद्धि होकर नाटक समाप्त हो जाता है ।

जो घटनाएँ कथानक की विभिन्न अवस्थाओं के विकास को प्रकट करती है, अर्थ-प्रकृतियाँ, कहलाती है । ये भी संख्या में पाँच होती है । **बीज, बिन्दु, पताका प्रकारी** और **कार्य** । प्रत्येक अवस्था तथा अर्थ प्रकृति में मेल कराना सन्धियों का कार्य है । इन

सन्धियों की संख्या भी पाँच है - **मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श या विमर्श** और **निर्वहण** या **उपसंहार** ।

निम्नलिखित तालिका द्वारा **अर्थ-प्रकृति, अवस्था,** एवं **संन्धियों** के पारम्परिक सम्बन्ध को अधिक स्पष्टतापूर्वक ग्रहण किया जा सकता है ।

	अर्थ-प्रकृति	**अवस्था**	**सन्धि**
1.	बीज	प्रारम्भ	मुख
2.	बिन्दु	प्रयत्न	प्रतिमुख
3.	पताका	प्रप्त्याशा	गर्भ
4.	प्रकरी	नियताप्ति	विमर्श (अवमर्श)
5.	कार्य	फलागम	निर्वहण या उपसंहार

नाटक में सारी कथावस्तु को प्रत्यक्ष रूप से रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन होता है । अतः उसके कुछ अंश की केवल सूचना ही किसी प्रकार दे दी जाती हे । इस सूच्य वस्तु की सूचना देनेवाले साधनों को 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं । ये भी पाँच प्रकार के बनाये गये हैं ।

1. **विष्कम्भक** : नाटक के आरम्भ में या दो अंकों के बीच में दो गौण पात्रों के वार्तालाप द्वारा जब सूचना दी जाती है तो उसे **विष्कम्भक** कहते हैं ।
2. **चूलिका** : पर्दे के पीछे से दी जानेवाली सूचना को **चूलिका** कहा जाता है ।
3. **अंकास्य** : अंक के अन्त में बाहर जानेवाला पात्र अगले अंक की कथा सूचना देकर उत्सुकता बढ़ाता है - अंकास्य कहते है ।
4. **अंकावतार** : जहाँ पर पहले अंक के पात्र ही बाहर जाकर फिर लौट आते है, उसे **अंकावतार** कहते है ।
5. **प्रवेशक** : नवागन्तुक, निम्नकोटि के पात्र द्वारा दी जानेवाली सूचना ही **'प्रवेशक'** कहते हैं । इस प्रकार

कथावस्तु उपर्युक्त भेदोपभेदों विभिन्न अंगो और साधनों के सूक्ष्म विश्लेषण से भारतीय आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय मिलता है ।

11.6.3. पात्र

भारतीय आचार्यों ने नाटक के पात्रों को नायक, नायिका, पीठमर्द विदूषक, दूतिका आदि वर्गों में विभक्त किया है । नाटक का प्रमुख पात्र **नायक** कहलाता है । नेता शब्द 'नी' धातु से बना है जिसका अर्थ 'ले चलना' होता है । **नायक कथा** को फल की ओर ले जाता है । हमारे यहाँ नायक को सर्वगुण सम्पन्न माना गया है । उसे **विनीत, मधुर त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलनेवाला, लोकप्रिय, पवित्र, वाक्पटु, कलावान, आत्म-सम्मानी, शूर, तेजस्वी, दृढ़, शास्त्रज्ञ** और **धार्मिक** होना चाहिए ।

चारित्रिक दृष्टि से नायक - चार प्रकार के माने गये हैं,

1. धीरोदात्त : इसका चरित्र अत्यंत उदार होता है, उसमें शक्ति, क्षमा, स्थिरता, दृढ़ता, गंभीरता, आत्मसम्मान, उदारता आदि गुण होने चाहिए । 'राम' उसी प्रकार के नायक है ।

2. धीर-ललित : यह नायक कोमल स्वभाव का होता है तथा उसमें रसिकता तथा कला-प्रेम का उत्मेष अधिक पाया जाता है । श्रृंगार प्रधान नाटकों का नायक धीर ललित ही होता है ।

3. धीर प्रशांत : यह नायक संतोषी, शान्तिप्रिय, विनम्र, एवं शान्त स्वभाववाला होता है, क्षत्रियों में प्रायः ये गुण नहीं मिलते, इसलिए ब्राह्मण अथवा वैश्य ही धीर-प्रशान्त नायक होता है । **मालती-माधव** नाटक का **माधव** ऐसा ही नायक है ।

4. धीरोद्धत्त : यह कुटिल, नीतिज्ञ कपटी एवं प्रचंड व्यक्तित्व वाला होता है । साथ ही मायावी, आत्मप्रशंसा- परायण, धोखेबाज तथा चपल भी होता है । **रावण** का चरित्र **धीरोदत्त** नायक की ही कोटि का है ।

संस्कृत तथा हिन्दी के आचार्यों ने नायिका के भेदोपभेदों

को पर्याप्त विस्तार दिया है । श्रृंगार-प्रधान नाटकों में नायिका को विशेष स्थान प्रदान किया गया है । अतः श्रृंगार और प्रेम की परिस्थितियों अवस्थाओं तथा भाव-दशाओं के दृष्टिकोण से नायिका के सहस्त्रादिक भेद लिये गए है । सामाजिक स्थिति में नायिका में तीन भेद माने गये है । **स्वकीया, परकीया, सामान्या** ।

स्वकीया - नायक की विवाहिता पत्नी होती है । **परकीया**-यह नायक की पत्नी वर्णन होकर किसी अन्य की पत्नी अथवा अविवाहिता भी हो सकती है । **सामान्याः** इसे गणिका तथा वेश्या भी कहते है । यह नायिका अत्यंत निकृष्ट कोटि की समझ जाती है ।

आयु के आधार पर नायिकाओं के तीन भेद बनाये गये है । **1. मुग्धा** : इसमें रति भाव की अपेक्षा लज्जा का भाव अधिक होता हे । **2. मध्या** : इसमें रति तथा लज्जा के भाव समान मात्रा में होते हैं । **3. प्रौढ़ा** : इसमें लज्जा भाव की अपेक्षा रति का भाव अधिक होता है ।

परिस्थितियों के अनुसार भी नायिका के स्वाधीन पतिका, वासकसज्जा, उत्कण्ठिता, अभिसारिका, विप्रलब्धा, खंडिता, कलहान्तरिता, प्रवत्स्यप्रतिका, प्रोषितपतिका, आगतपतिका आदि बहुत से भेद माने गये है ।

अन्य पात्रों में नायक की सहायता करनेवाला **पीठमर्द** कहलाता है, नायक का विरोधी **प्रतिनायक** कहा जाता है. । हास्य की सृष्टि करनेवाला पात्र **विदूषक** कहलाता है । वह प्रायः नायक का **अंतरंग मित्र** होता है । जो अपनी मूर्खतापूर्ण उक्तियों से हास्य रस का संचार करता है ।

नाटकों में पात्रों के चरित्र चित्रण का विशेष महत्व होता है । पात्र चाहे एक क्षण के लिए भी आए और एक ही वाक्य कहे, उसका प्रभाव, स्थायी होना चाहिए तथा चरित्र स्पष्ट हो जाना चाहिए । प्राचीन भारतीय नाटकों में प्रायः पात्रों का चरित्र आदि से

लेकर अन्त तक एक जैसा दिखाया जाता था, जबकि आधुनिक नाटकों में पात्रों के मानसिक संघर्ष का चित्रण करते हुए उनके चरित्र का उत्थान या पतन दिखाया जाता है । **1. कथोपकथन द्वारा, 2. स्वगत कथन द्वारा, 3. क्रियाकलापों द्वारा** । इसके अतिरिक्त पात्रों की **वेश-भूषा, विभिन्न चेष्टाओं** आदि से भी उनकी चारित्रिक प्रवृत्तियों का पता चलता है ।

11.6.4. रस

भारतीय आचार्यों ने रस को नाटक का सर्वाधिक प्रमुख तत्व स्वीकार किया है । सर्वप्रथम भरत मुनि ने अपने **'नाट्यशास्त्र'** में रस पर संक्षेप रूप से प्रकाश डाला है । उन्होंने विभाव तथा अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों को स्थायी भाव के साथ मिल जाने से रस की निष्पत्ति स्वीकार ली है । - **''विभावानुभावव्यभिचारि संयोगद्रस निष्पत्तिः ।''** भरत के इस रस सूत्र की व्याख्या उनके अनेक परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है । इन आचार्यों में **भट्ट लोल्लट ; शंकुक भट्टनायक, अभिनव गुप्त, धनंजय, पंडितराज जगन्नाथ** तथा **रामचन्द्र शुक्ल** मुख्य है । रस के संबंध में संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है, जब अभिनेताओं के कुशल अभिनय से दर्शकों की वृत्तियाँ स्व-पर की भावना से मुक्त हो नाट्य रचना के मूल भाव के साथ एक तान हो जाती है तब इस प्रक्रिया को साधारणीकरण की संज्ञा दी जाती है । साधारणीकरण से जिस अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूती होती है, उसी का दूसरा नाम **रस** है ।

इस रस का विवेचन करते हुए आचार्यों ने **भाव, विभाव, अनुभाव, संचारीभाव** आदि के अनेक प्रकार के सूक्ष्म भेद-उपभेद किये हैं, किन्तु सामान्यतः स्थायी भावों की संख्या नौ स्वीकार की जाती है, **रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा विस्मय, और निर्वेद**, जिन रसों के ये स्थायी भाव है, उनके क्रमशः नाम है **श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत** तथा **शांत** । विभाव के दो भेद माने गये है । - **आलम्बन** और **उद्दीपन** ।

अनुभावों के भी शारीरिक, मानसिक तथा सात्विक उपभेद किये गये है । सात्विक अनुभावों की संख्या आठ स्वीकार की गई है - **स्तम्भ, खेद, प्रलय, रोमांच, वैवर्ण्य, वेपथु, अश्रु तथा स्वर** का बदल जाना । संचारी भाव तैंतीस माने गये हैं, किंतु कुछ आचार्यों का कहना है कि संचारियों की संख्या इससे भी अधिक है ।

11.6.5. अभिनय

साहित्य की दूसरी विधाओं और नाटकों में सबसे बडा अन्तर यह है कि जहाँ अन्य विधाओं की रचना पठन या श्रवण के उद्देश्य से होती है, वहाँ नाटक की रचना दर्शन के निमित्त होती है । नाटक श्रव्य या पाठ्य नहीं अपितु दृश्य काव्य है, और उसे **''दृश्य-काव्य''** में परिणित करनेवाला प्रमुख तत्व **अभिनय** है । अतः यह नाटक का महत्वपूर्ण तत्व है ।

नाटक खेलनेवाले पात्र या अभिनेता रंगमंच पर उपस्थित होकर जो रूप परिवर्तन, चेष्टाएँ वार्तालाप आदि करते हैं, वह सब अभिनय के अन्तर्गत लिया जाता है । अभिनय को चार प्रकार का माना गया है, **आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक** । आंगिक के भी अनेक भेद किए गए हैं । शरीर, मुखज और चेष्टाकृत । आंगिक अभिनय में अंगों के संचालन के भिन्न-भिन्न प्रकार निश्चित किए गए है । प्रत्येक रस के अंगों का संचालन उसी के अनुकूल होता है । अभिनय में पात्रों के संभाषण आदि का विवेचन किया जाता है । भरतमुनि ने पात्रों के स्तर एवं उनकी शिक्षा के अनुकूल भाषा में संभाषण की आयोजना का समर्थन किया है । **'आहार्य'** के अन्तर्गत पात्रों के **रूप, आकृति, वेश-भूषा, आभूषणादि** पर विचार किया जाता है, नाट्य शास्त्र में विभिन्न वर्गों के आचार्य संबंधि अभिनय की विस्तृत विवेचना की गई है । यहाँ तक कि उन्होंने स्थिति के लोगों के बालों और मूंछों की सजावट की भी विधी दी है । जैसे विदूषक को गंजा दिखाना चाहिये, बच्चों की तीन चोटियाँ होनी चाहिए,नौकरों की लंबी चोटियाँ होनी चाहिए आदि ।

सात्विक अभिनय के अंतर्गत **स्तम्भ, स्वेंद, अश्रु** आदि की चर्चा की जाती है । अभिनय में सबसे अधिक कठिन सात्विक अभिनय है । इस प्रकार का अभिनय सबसे कठिन होता है ।

11.6.6. वृत्तियाँ

कुछ विधान वृत्ति और शैली को समान अर्थ में ग्रहण करते हैं - जो ठीक नहीं है । शैली का सम्बन्ध मुख्यतः नाट्य-वस्तु, के बहिरंग उसकी भाषा आदि से है, जबकि वृत्ति उसकी मूल प्रकृति से संबंध रखती है, वृत्तियाँ चार बताई गई हैं । **कौशिकी, सात्वती, आरभटी** और **भारती** ।

कौशिकी में श्रृंगार, हास्य, गीत और नृत्य का बाहुल्य रहता है । **आरभटी** में माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, संघर्ष घात-प्रतिघात आदि का निरूपण रहता है ।

भारती वृत्ति में स्त्रियाँ वर्जित मानी गई हैं। आधुनिक नाटकों और फिल्मों का भी इन वृत्तियों के आधार पर वर्गीक़रण कर सकते है । प्रेम और रोमांच सम्बन्धी समाज-सुधार एवं देश-प्रेम सम्बन्धी जासूसी एवं रहस्यात्मक और मारकाट सम्बन्धी चल-चित्रों को क्रमशः कौशिकी, सात्वती आरभटी और भारती में रखा जा सकता है ।

11.7. पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि से नाटक के तत्व

पाश्चात्य आचार्यों ने नाटक के छः तत्व निर्धारित किये हैं, जो निम्नलिखित हैं :

11.7.1. कथावस्तु

कथावस्तु के विषय में भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोण में मौलिक भेद नहीं मिलता । हाँ, भारतीय आचार्यों ने इसका जितना सूक्ष्म विवेचन किया है, उतना पाश्चात्य आचार्यों ने नहीं । वे भी पौर्वात्य की भाँति कथा के दो प्रकार मानते हैं :- **1. आधिकारिक 2. प्रासंगिक** । जिस प्रकार हमारे यहाँ नाटक की पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं, इस प्रकार उनके यहाँ भी केवल

पारिभाषिक शब्दावली में कुछ अन्तर है । उन्होंने इन अवस्थाओं के नाम **प्रारंभ, विकास, चरमसीमा, उतार और अन्त दिये हैं** ।

11.7.2. पात्र और चरित्र चित्रण

इस तत्व के विषय में भी दोनों दृष्टिकोणों में कोई मूलभूत अन्तर नहीं है । हाँ, इतना अवश्य है कि पाश्चात्य नाटकों में चरित्र-चित्रण पर विशेष बल दिया जा रहा है ।

11.7.3. कथोपकथन

कथा-क्रम के विकास और पात्रों के चरित्रों पर प्रकाश डालने के लिए इस तत्व की बहुत अधिक उपयोगिता है । कथोपकथन के **सर्वश्राव्य, अश्राव्य** तथा **स्वगत** कथन ये तीन भेद किये गये हैं, इनमें से आज पौर्वात्य तथा पाश्चात्य दोनों ही नाटकों से अश्राव्य तथा स्वगतकथन को अस्वाभाविक मानकर हटाया जाने लगा है । कथोपकथन का एक अन्य प्रकार भी प्रचलित था - आकाशभाषित, किन्तु आधुनिक नाटकों से उसे हटाया जा रहा है । यदि नाटककार को स्वगत-कथन जैसा कोई विधान करना पड़ता है तो वह पात्र के किसी अन्तरंग मित्र को रंगमंच पर उपस्थित कर देता है और पात्र उससे अपनी संपूर्ण स्थिति का निवेदन कर देता है ।

11.7.4. देश-काल

नाटक में इस तत्व की आवश्यकता स्वाभाविकता का आधान करने के लिए पड़ती है । स्वाभाविकता की रक्षा के लिए नाटककार को प्रत्येक युग, प्रत्येक देश तथा वातावरण का चित्रण उसकी संस्कृति, सभ्यता, रीति-रिवाज, रहन-सहन और वेष-भूषा के अनुरूप करना चाहिए । ग्रीक आचार्यों ने नाटक में देश तथा काल को महत्व प्रदान करने के लिए संकलनत्रय (Unit of Time] place & Action) का विधान किया था । इस संकलनत्रय के अंतर्गत समय, स्थान तथा कार्य की एकताएँ आती हैं । ग्रीक आचार्यों का कहना

था कि नाटक की कथावस्तु ऐसी होनी चाहिए जिसका घटना-काल चौबीस घण्टे से अधिक वर्णन हो, पूरी घटना एक ही स्थान पर घटित होनी चाहिए, और घटना में विश्रृंखलता वर्णन होकर अन्विति होनी चाहिए अर्थात् नाटककार की दृष्टि सदैव मूल घटना पर रहे, वह इधर-उधर बहक न जाय । आज के नाटकों में संकलनत्रय का कोई ध्यान नहीं रखता । आधुनिक युग में प्रायः ऐसे नाटकों की रचना हुई है कि उनकी घटनाएँ कई-कई वर्षों की है, कई स्थानों पर घटित हुई है और प्रायः आधिकाधिक कथा के साथ आनुषंगिक कथा का भी विधान किया गया है । शेक्सपीयर तथा प्रसाद के आधिकांश ऐतिहासिक नाटक ऐसे ही है ।

11.7.5. भाषा शैली

नाटक की भाषा साहित्यिक होते हुए भी बोलचाल की लोकभाषा से दूर नाटक हो, क्योंकि प्रेक्षागृह में अभितात्यवर्ग के लोगों की अपेक्षा सामान्य जनता की संख्या अधिक होती है । परन्तु लोकभाषा के नाम पर सामान्य बोलचाल की भाषा का प्रयोग करना उचित नहीं है । भाषा के प्रयोग में रसात्मकता एक होनी चाहिए । भाषा में स्वाभाविकता लाने के लिए पात्रों के सामाजिक स्तर के आधार पर ही उनके संवादों की भाषा का विधान होना चाहिए । अतः भाषा पात्रानुरूप हो ।

हिन्दी की शैली सरल, सरस, एवं प्रवाहपूर्ण होनी चाहिए । दुर्बोध शैली कृत्रिम-सी लगती है और नाटक का स्वाभाविक प्रवाह भी सुरक्षित नहीं रहता ।

11.7.6. उद्देश्य

नाटक-रचना का कोई न कोई उद्देश्य होता है और नाटककार अपने इस उद्देश्य की अभिव्यक्ति प्रायः नाटक के प्रमुख पात्र के माध्यम से करता है । इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए नायक को विभिन्न संघर्षों का सामना करना पड़ता है । यही कारण है कि पाश्चात्य नाटकों में संघर्ष को बहुत अधिक प्रमुखता

दी गई है । उद्देश्य की प्राप्ति के साथ ही संघर्ष का भी शमन हो जाता है ।

11.8. भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों के दृष्टिकोणों में समन्वय

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक के कुछ तत्व तो ऐसे हैं जो भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि में एक-से ही है । कथावस्तु तथा पात्रों के विषय में तो दोनों दृष्टिकोणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । पाश्चात्यों का कथोपकथन नामक तत्व भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित 'वाचिक अभिनय' का ही पर्यायवाची है । भारतीय आचार्यों ने अभिनय के भेदोपभेदों में वेष-भूषा, क्रिया-कलाप आदि पर बल दिया है, उसे पाश्चात्यों के देश-काल के समानार्थ मान सकते हैं । उद्देश्य का समाहरण रस में तथा शैली का वृत्तियों में हो जाता है । इस प्रकार पाश्चात्य तत्वों का समावेश तो भारतीय तत्वों में किया गया हो किन्तु भारतीय तत्वों का समाहार पाश्चात्य तत्वों में नहीं हो पाती ।

काव्य के प्रत्येक अंग में भाव-तत्व की प्रमुखता होती है, अतः भावानुभूति या रस तत्व का नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु पाश्चात्य आलोचकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया । इसी प्रकार अभिनय भी 'नाटक' को 'नाटक' बताता है, किन्तु इसका यूरोपीय विद्वानों ने उल्लेख नहीं किया । वस्तुतः भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया तात्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है ।

11.9. नाटक और रंगमंच

नाटक के लिए रंगमंच की अत्यन्त आवश्यकता है । यह आवश्यकता प्रायः सभी सभ्य देशों में अनुभव की गयी हे, फलतः नाटक के विकास के साथ विविध देशों में अलग-अलग बहुधा

स्वतंत्र रंगमंच का निर्माण हुआ है । भारत में तो अति प्राचीन काल से रंगमंच के निर्माण का विधान मिलता है ।

नाटक के पात्र, उसकी कथा, उसके कथोपकथन, संगीत तथा वाद्य, सभी को एक भूमिका की आवश्यकता रहती है । यह भूमिका ही रंगमंच है । कोई नाटक रंगमंच पर जितना प्रभावोत्पादक और सुन्दर लगता है, उतना खुले में नहीं लग सकता । कारण, स्वभाव से ही नाटक का रूप ऐसा है जिसमें कलात्मक चयन पर ध्यान रहता है । जो साधारण है उसमें से चुनकर ऐसे सुन्दर कलामय रूप में प्रस्तुत करना कि उसकी स्वाभाविकता बनी रहे और वह स्वाभाविकता संकुचित सीमा में दबोचकर भरी जाकर विशेष शक्तिशाली हो जाय, यह नाटक की कला का मुख्य रहस्य है । रंगमंच इसमें सहायता करता है । उस छोटे से रंगपीठ पर समस्त क्षेत्र सिमटकर समा जाता है । इससे वह अत्यंत प्रेक्षणीय हो जाता है । रंगपीठ पर आते-जाते समय और अभिनय करते समय गति का और नाट्य का स्वरूप जितना सधा हुआ हो सकता है, उतना खुले में नहीं । रंगमंच से आज जो चित्रकला, दृश्य-विधान आदि के द्वारा स्थान, वातावरण और नदी, पर्वत, सागर, झरनों आदि के स्वाभाविक दृश्य उपस्थित किये जाते हैं । इन सबका प्रबंध खुले में नहीं हो सकता । अतः केवल सौन्दर्य और कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही नहीं, नाटक के कथा-पात्र-संविधान को उसकी अन्तरंग सहायता के लिए भी रंगमंच अनिवार्य है ।

11.10. प्राचीन एवं नवीन नाटकों में अंतर

नाटक अपने आरम्भ काल से लेकर आज जहाँ तक की विकास-यात्रा कर चुका है, उसका सूक्ष्म अध्ययन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि उसकी आत्मा एवं कलेवर दोनों में पर्याप्त अन्तर आ गया है । आज नाटकों में प्रख्यात वस्तु-योजना को कोई महत्व नहीं दिया जाता है । कथा-नायक कल्पित एवं सामान्य जन हो सकता है । इसी प्रकार के वस्तु योजना के लिए

प्राचीन नाटकों में जिन पंच अवस्थाओं, संधियों एवं प्रकृत्तियों आदि को अपरिहार्थ माना जाता था, आज का नाटककार उधर से केवल उदासीन ही नहीं, बल्कि सर्वथा निश्चिन्त होकर सर्जना प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है । नाटकों का आदि, मध्य, अन्त रहता तो है, किन्तु वह पूर्व निर्धारित एवं नियत नहीं होता । बस जहाँ संघर्ष का चरम रूप दिखाई दिया, वहीं अंत दिखा दिया जाता है । आज के पात्र प्रक्रियात्मक नहीं, बल्कि यथार्थ जीवन के जीवन्त पुतले होते हैं । वे सामान्य जीवन की ऐसी मान्यताओं के विरूद्ध संघर्ष-रत दिखाये जाते हैं कि जिन्होंने जीवन को जड़ बनाकर उसका विकास-मार्ग रोक रखा है । कृत्रिम एवं अस्वाभाविक प्रतीत होने वाले स्वगत-कथन और गीतों आदि का भी क्रमशः पूर्ण बहिष्कार कर दिया गया है । इसी कारण आज के नाटकों की शिल्प-विधा को यथार्थवादी नाट्य-विधा कहा जाता है ।

यह स्वीकृत तथ्य है कि आज के नाटक का रूप बदल गया है । किन्तु मानव-जीवन में उसकी उपयोगिता प्राचीन काल से ही है, और रहेगी । किसी भी युग में उसकी बहिष्कृति संभव नहीं है । विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मानव का जीवन अधिकाधिक व्यस्त होता जा रहा है, अतः नाटक की आवश्यकता और भी अधिक बढ़ती रही है । आये दिन चलचित्र-गृहों की संख्या का बढ़ता जाना इस बात का पुष्ट प्रमाण हे । लेकिन तब भी आज फिर जन-रूचि एवं कलाकारों की रूचि भी सिनेमा से लोकमंच और रंगमंच की ओर वापिस मुड़ रही है । यह नाटक के लिए बहुत ही शुभ लक्षण स्वीकारा जाना चाहिए ।

11.11. बोध प्रश्न

नमूने के उत्तर

1. नाटक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए अर्थ को स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर : विभिन्न विद्वानों ने 'नाटक' या 'नाट्य' शब्द की व्याख्या करते हुए उसकी व्युत्पत्ति परिभाषा एवं उसके स्वरूप पर प्रकाश

डाला है । पाणिनि ने 'नाट्य' शब्द की व्युत्पत्ति 'नट' धातु से सिद्ध की है । जबकि 'नाट्य-दर्पण' की रचयिता रामचन्द्र गुणचन्द्र ने 'नाट्' धातु से 'नाट्य' की उत्पत्ति मानी है, बेबर और मोनियर विलियम्स ने सिद्ध किया है कि 'नट्', 'नाट्' आदि धातुएँ 'नृत' दोनों धातुओं का प्रयोग मिलता है । अतः 'नट्', को विकृत रूप मानना उचित नहीं ।

धनंजय ने अपने दशरूपक में नृत्त और नृत्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया है कि नृत् ताल-लय के आश्रित होता है, नृत्य भावाश्रित और नाट्य रसाश्रित होता है । अतः हम कह सकते हैं कि नृत् और नृत्य में विशेष अंत्तर नहीं है - उन दोनों में ही ताल-लय और भाव का आश्रय लिया जाता है, जबकि नट्, नाट्य और नाटक में अनुकरण तथा अभिनय की प्रमुखता होती है । नृत्य नाट्य का एक अंग हो सकता है, किन्तु नाट्य नृत्य का नहीं, स्पष्ट है' नाटक' नृत्य से अधिक व्यापक अर्थ को सूचित करता

'नाटक' के पर्यायवाची के रूप में 'रूपक' शब्द का प्रयोग किया जाता है, किन्तु मूलतः दोनों के अर्थ में सूक्ष्म अन्तर है । नाटक में मूल पात्रों की विभिन्न चेष्टाओं आदि का अनुकरण मात्र अपेक्षित है, जबकि रूपक में उसके साथ-साथ मूल पात्रों के रूप का आरोपण भी आवश्यक है । 'नाटक' शब्द में गति एवं क्रियात्मकता की प्रमुखता होती है, जबकि रूपक में स्थूल रूप-वेष-भूषा आदि को अधिक महत्व दिया जाता है । संस्कृत के आचार्यों ने रूपक को नाटक से अधिक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त करते हुए उसके अट्ठारह भेद किये हैं जिनमें से एक भेद नाटक भी है ।

अंग्रेजी में 'नाटक' का पर्यायवाची ड्रामा (Drama) शब्द है । आइवर ब्राउन ने ड्रामा का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसका सम्बन्ध युनानी के एक शब्द विशेष से स्थापित किया है जिसका अर्थ होता है 'कृत' या 'किया हुआ' । उसी को कार्य कहते है । वस्तुतः

पाश्चात्य नाटकों में कार्य को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है, किन्तु अभारतीय नाटकों में अभिनय कला या, रस को प्रमुखता दी जाती है । इसी दृष्टिकोण भेद के कारण दोनों के स्वरूप, लक्षण एवं तत्वों में अन्तर मिलता है ।

2. नाटक के भारतीय लक्षण क्या है ?

उत्तर : आज तक नाटक के विभिन्न आचार्यों द्वारा अनेक प्रकार के लक्षण दिये गये है । संस्कृत के काव्य-शास्त्रियों एवं आचार्यों के प्रयास इस दिशा में स्तुत्य हैं । पूर्ववर्ती आचार्यों एवं उनकी सर्जनाओं के अनुपलब्ध होने के कारण आचार्य भरत से ही लक्षणों की यह परम्परा मिलती है । नाटक का स्वरूपगत लक्षण देते हुए भरतमुति ने अपने नाट्य शास्त्र में लिखा है, ''यो..... स्वभावों लोकस्य सुखदुख समन्वितः । सो...गद्याभिनयोपतो नाट्यमित्यभिधीयते ।'' अर्थात् जिसमें स्वभाव से ही लोक का सुख-दुख समन्वित होता है तथा अंगों आदि के द्वारा अभिनय किया जाता है उसी को 'नाटक' कहते है ।

भरत के बाद आचार्य अभिनव गुप्त का नाम विशेष उल्लेखनीय है । उन्होंने लिखा है, ''प्रत्यक्ष कल्पानुध्यवसाय विषयो लोकपसिद्धः सत्यासत्यविविलक्षपात्वा वर्णन यच्छब्दवाच्यों लोकस्य सर्वस्य साधारणतया स्वत्वेन भाव्यमानार्श्स्ध्यमाणो.....र्थो नट्सम् ।'' अर्थात् नाटक वह दृश्यकाव्य है जो प्रत्यक्ष कल्पना एवं अध्यवसाय का विषय बन सत्य एवं असत्य से समन्वित विलक्षण रूप धारण करके सर्वसाधारण को आनन्दोपलब्धी प्रदान करता है ।

इसी प्रकार महिम भट्ट का मत है कि, अनुभव विभावादि के वर्णन से जब रसानुभूति होती है तो उसे काव्य कहते है और जब काव्य को गीतादि से रंजित एवं अभिनेताओं द्वारा प्रदर्शित किया जाता है तब वह नाटक का स्वरूप धारण कर लेता है ।

'नाट्य दर्पण' के आचार्य रामचंद गुणचन्द्र नाटकों को चतुष्फलों का दाता मानते हैं । साथ ही उसी प्रकृतियों एवं सन्धियों आदि का पालन अपरिहार्य मानते है ।

नाटक के लक्षणों का विषद विस्तृत एवं स्पष्ट निरूपण आचार्य विश्वनाथ ने किया है । उन्होंने साहित्य दर्पण में लिखा है, नाटक का वृत्त (कथा) प्रसिद्ध हो, उसमें पाँचों सन्धियों का समन्वय होना चाहिए । उनमें विलास, समृद्धि आदि गुणों तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिये । उसमें पाँच से लेकर दस तक अंक होते है । पुराणादि से प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न धीरोदात्त, प्रतापी, गुणवान कोई राजर्षि अथवा दिव्य या दिव्यादिव्य पुरूष नाटक का नायक होता है । श्रृंगार या वीर इनमें से कोई एक रस प्रधान होता है - अन्य सब रस अंगभूत रहते है । उसे निर्वहण सन्धि में अत्यंत अद्‌भुत (कौतुहल-वर्द्धक) बनाना चाहिए । इसमें चार या पाँच पुरूष प्रधान कार्य के साधन में रत रहने चाहिए तथा गौ की पूँछ के अग्र भाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए ।''

नाटक के उपर्युक्त लक्षणों पर विचार करते समय सहसा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हमारे आचार्यों ने 'ख्यात वृत्त' पर इतना अधिक बल क्यों दिया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है, नाटक की रचना उच्च वर्ग के शिक्षित लोगों को ही नहीं, निम्न वर्ग के अशिक्षित जन-समुदाय को भी ध्यान में रखकर हो जाती है, अतः 'ख्यात वृत्त' होने पर वे उसे अधिक स्पष्टता से ग्रहण कर सकते है । दूसरे कल्पित आचार्यों के नये-नये पात्रों के प्रति हमारी भावना का विकास एकाएक उतनी गंभीरता से नहीं हो सकता जितना कि ख्यात नायकों राम, युधिष्ठिर, अर्जुन, अशोक, प्रताप आदि से हो सकता है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने 'कार्य' को महत्व देने रसानुभूति में हमारे पूर्व संस्कार एवं प्रारंभिक धारणाओं का भी गहरा योग होता है । महाराणा प्रताप का नाम सुनते ही जिस उदात्त भावना का संचार हमारे हृदय में हो जाता है, वह किसी कल्पित भानुप्रताप के दर्शन से नहीं होता । कल्पित पात्रों के साथ हमारा तादात्म्य नाटक का कुछ अंश देख लेने के बाद आगे चलकर होता है, फलतः हमारी अनुभूति में पूर्ण सघनता आने में देर लगती है ।

भारतीय आचार्यों ने रसनिष्पत्ति को उद्देश्य मानते हुए नाटक के लक्षणों का प्रतिपादन किया है, जबकि पाश्चात्य विद्वानों ने कार्य को महत्व देते हुए संघर्ष, संकलन-त्रय, दुखान्त , सुखान्त आदि लक्षणों की प्रमुखता दी है ।

3. नाटक के तत्वों का विवेचन कीजिए ।

उत्तर : उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक के कुछ तत्व तो ऐसे हैं जो भारतीय तथा पाश्चात्य आचार्यों की दृष्टि में एक-से ही है । कथावस्तु तथा पात्रों के विषय में तो दोनों दृष्टिकोणों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है । पाश्चात्यों का कथोपकथन नामक तत्व भारतीय आचार्यों द्वारा निरूपित 'वाचिक अभिनय' का ही पर्यायवाची है । भारतीय आचार्यों ने अभिनय के भेदोपभेदों में वेष-भूषा, क्रिया-कलाप आदि पर बल दिया है, उसे पाश्चात्यों के देश-काल के समानार्थ मान सकते हैं । उद्देश्य का समाहरण रस में तथा शैली के वृत्तियों में हो जाता है । इस प्रकार पाश्चात्य तत्वों का समावेश तो भारतीय तत्वों में किया गया हो किन्तु भारतीय तत्वों का समाहार पाश्चात्य तत्वों में नहीं हो पाती ।

काव्य के प्रत्येक अंग में भाव-तत्व की प्रमुखता होती है, अतः भावानुभूति या रस तत्व का नाटक में महत्वपूर्ण स्थान है किन्तु पाश्चात्य आलोचकों ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया । इसी प्रकार अभिनय भी 'नाटक' को 'नाटक' बताता है, किन्तु इसका युरोपीय विद्वानों ने उल्लेख नहीं किया । वस्तुतः भारतीय आचार्यों द्वारा किया गया तात्विक विवेचन एवं विश्लेषण अधिक प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है तथा नाटक के स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक समर्थ है ।

4. नाटक और रंगमंच के पारस्परिक संबंध की विवेचना कीजिए ।

उत्तर : नाटक के लिए रंगमंच की अत्यन्त आवश्यकता है । यह आवश्यकता प्रायः सभी सभ्य देशों में अनुभव की गयी हे, फलतः नाटक के विकास के साथ विविध देशों में अलग-अलग बहुधा

स्वतंत्र रंगमंच का निर्माण हुआ है । भारत में तो अति प्राचीन काल से रंगमंच के निर्माण का विधान मिलता है ।

नाटक के पात्र, उसकी कथा, उसके कथोपकथन, संगीत तथा वाद्य, सभी को एक भूमिका की आवश्यकता रहती है । यह भूमिका ही रंगमंच है । कोई नाटक रंगमंच पर जितना प्रभावोत्पादक और सुन्दर लगता है, उतना खुले में नहीं लग सकता । कारण, स्वभाव से ही नाटक का रूप ऐसा है जिसमें कलात्मक चयन पर ध्यान रहता है । जो साधारण है उसमें से चुनकर ऐसे सुन्दर कलामय रूप में प्रस्तुत करना कि उसकी स्वाभाविकता बनी रहे और वह स्वाभाविकता संकुचित सीमा में दबोचकर भरी जाकर विशेष शक्तिशाली हो जाय, यह नाटक की कला का मुख्य रहस्य है । रंगमंच इसमें सहायता करता है । उस छोटे से रंगपीठ पर समस्त क्षेत्र सिमटकर समा जाता है । इससे वह अत्यंत प्रेक्षणीय हो जाता है । रंगपीठ पर आते-जाते समय और अभिनय करते समय गति का और नाट्य का स्वरूप जितना सधा हुआ हो सकता है, उतना खुले में नहीं । रंगमंच से आज जो चित्रकला, दृश्य-विधान आदि के द्वारा स्थान, वातावरण और नदी, पर्वत, सागर, झरनों आदि के स्वाभाविक दृश्य उपस्थित किये जाते हैं । इन सबका प्रबंध खुले में नहीं हो सकता । अतः केवल सौन्दर्य और कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए ही नहीं, नाटक के कथा-पात्र-संविधान को उसकी अन्तरंग सहायता के लिए भी रंगमंच अनिवार्य है ।

NOTES

NOTES

इकाई बारह : नाटककार प्रसाद

इकाई की रूपरेखा

12.0. उद्देश्य

12.1. प्रस्तावना

12.2. प्रसादपूर्ण युग

12.3. प्रसाद का नाट्य साहित्य

- 12.3.1. प्रसाद नाटक के प्रारंभिक काल
- 12.3.2. प्रसाद नाटक के प्रयोग काल
- 12.3.3. प्रसाद नाटक के प्रौढ़ काल

12.4. प्रसाद के नाटक में ऐतिहासिकता

12.5. प्रसाद के नाटकों में चरित्र-चित्रण

12.6. प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच

12.7. नाट्यकला का टेकनिक

12.8. बोध प्रश्न

12.0. उद्देश्य

पिछले इकाई में आपने नाटक का स्वरूप, लक्षण के बारे में अध्ययन किया । अब आप 'नाटककार' जयशंकर प्रसाद के बारे में अध्ययन करने जा रहे है । प्रसाद का नाट्य-कला, प्रसाद नाटक के चरित्र-चित्रण आदि के बारे में अध्ययन करेंगे ।

प्रसाद मूलतः एक कवि हैं । पर उन्होंने साहित्य के विभिन्न विधाओं में अपना योगदान दिया है । प्रस्तुत इकाई में प्रसाद के नाटककार रूप पर विशेष प्रकाश डाला जा रहा है । प्रसाद ऐसे नाटककार है जिनके नाटक क्षेत्र में पदार्पण से ही नाटक साहित्य का कार्याकल्प हो गया । अतः उनके योगदान को जानने हेतु उनके पूर्वयुग का सिंहावलोकन किया गया है, साथ ही उनके महत्व को रेखांकित करने हेतु उनके सघन योगदान को समझने में आसानी होगी । इसी के साथ उनके नाटकों के चरित्र, ऐतिहासिकता तथा रंगमंच से उनके नाटकों का संबंध आदि पर भी विचार प्रस्तुत किया गया है, जिससे प्रसाद के नाटककार रूप को भलीभाँति समझा जा सके ।

12.1. प्रस्तावना

महाकवि जयशंकर प्रसाद हिन्दी साहित्य क्षेत्र में बहुमुखी और विराट् प्रतिभा लेकर अवतीर्ण हुए । जहाँ एक ओर उनके व्यक्तित्व में कवि, नाटककार, उपन्यासकार, कहानीकार, निबंध लेखक आदि सभी के रूपों का समाहरण हुआ है । वहाँ दूसरी ओर साहित्य की इन विभिन्न धाराओं की चरम परिणति भी उनमें देखने को मिलती है । उन्होंने जहाँ अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल पर हिन्दी साहित्य की अनेक विध-विधाओं का सर्जन किया वहाँ अपनी विराट् प्रतिभा के योग से इन सभी विधाओं को चरम उत्कर्ष प्रदान किया-बहुविध साहित्य का प्रणयन करने पर भी उनके किसी एक भी प्रकर के साहित्य का लचरपन देखने को नहीं मिलता । उनका जन्म हिन्दी साहित्य में एक अदृष्टपूर्ण घटना है । विश्व

साहित्य में ऐसे साहित्यकार विरले ही मिलेंगे जिन्हें साहित्य की विविध विधाओं में इतनी अधिक सफलता मिली हो, जितनी प्रसाद को मिली है । किन्तु, चाहे वे नाटक लिख रहे हों, चाहे निबन्ध, चाहे उपन्यास लिख रहे हों, चाहे कहानी-उनका कवि रूप उनकी समस्त कृतियों में झाँकता है । मूलतः वे कवि हैं और इसीलिए वे साहित्य के किसी क्षेत्र में भी कवि के आवरण को उतार कर अलग रख नहीं पाये हैं । साहित्य की किसी भी विधा के लेखन में उनका कवि हृदय सबसे ऊँचे चढ़कर बोला है । यहाँ पर उनके नाटककार रूप का विश्लेषण ही हमारा प्रमुख प्रयोजन है । किन्तु उनके नाटकों पर विचार करने से पूर्व उनके युग पर विहंगम दृष्टिपात करना आवश्यक है ।

12.2. प्रसादपूर्व युग

प्रत्यक्ष रसानुभूति का माध्यम होने के कारण नाट्य (नाटक) ही काव्य की सर्वोत्तम विधा है । यह प्राचीन मान्यता के होते हुए भी हिन्दी में आधुनिक काल के प्रवर्तन-पर्यन्त नाटक-कला प्रायः उपेक्षित ही रही । जिस प्रकार भारतेन्दु हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग की अनेक प्रवृत्तियों के प्रवर्तक माने जाते है, उसी प्रकार नाटक-साहित्य के प्रथम प्रस्तोता होने का गौरव भी उन्हें दिया गया है ।

भारतेंदु ने नाटक की प्रेरणा बंग साहित्य से प्राप्त की । उस समय तक यूरोपीय रंगमंच का भारत में प्रवेश नहीं हुआ था । बंगीय साहित्य के प्रमुख नाटककार थे माइकेल मधुसूदन दत्त, गिरीशचन्द्र घोष तथा दीनबन्धु मिश्र आदि । इनके नाटक बड़ी धूम से बंगाल में खेले जाते थे । उसी समय द्विजेन्द्रलाल राय भावोन्माद और करुणा को लेकर रंगमंच पर अवतीर्ण हुए और अतुकान्त पद्य में जिस नाट्य-साहित्य को प्रस्तुत किया ; उसने बंगीय जनता को अपनी ओर विशेष आकृष्ट किया किन्तु कालांतर में यह शैली जनरूचि के अनुकूल नहीं ठहरी और धीरे-धीरे नाटकों गद्य का प्रयोग बढ़ता गया । भारतेंदु इसी नाट्य कला के

सम्पर्क में आये थे और उससे उन्होंने पर्याप्त प्रभाव ग्रहण कर हिन्दी में भी नाट्य-साहित्य की अभिवृद्धि करने की चेष्टा की थी ।

भारतेंदु के आविर्भाव से नाट्य-साहित्य में विषय-वस्तु का विकास तथा उसमें विविधता का समावेश तो हो गया था, पर उसमें कलात्मक सौष्ठव और गांभीर्य का सर्वथा अभाव था । भारतेंदु-युग संक्रान्ति का समय था । उन्होंने आधुनिक काल की आशा-आकंक्षाओं को भली-भाँति पहचाना, पर उनके सामने नाट्य-साहित्य का आरम्भ्-काल होने के कारण एक सीमा थी । देश भक्ति और युग की नवीन चेतना से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने नाटक की रचना की । जीवन के विविध क्षेत्रों से नाटक की विषय वस्तु संगृहीत की । पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक तीन प्रकार के नाटकों की रचना भारतेंदु ने की । उनके नाटकों में परम्परागत शास्त्रीयता की छाप के साथ चरित्रों का विकास भी एकांगी रह गया । यद्यपि भारतेंदु ने एक द्रष्टा की भाँति सामाजिक जीवन की कुरीतियों तथा जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों पर अनेक प्रहसन और हास्य-व्यंग्य द्वारा कठोर आघात किया । उन्होंने हिन्दी नाट्य-साहित्य को मौलिक दृष्टिकोण दिया । मौलिक दृष्टिकोण अर्थात् सामजिक जीवन की नवीन अनुभूतियाँ हैं । भारतेंदु के समय नवीन प्राचीन का जो संघर्ष चल रहा था, उसमें भारतेंदु ने उत्थानमूलक नवीन मान्यताओं को अपनाया, साथ ही भारतीय संस्कृति की मूल विचार-धारा का कभी तिरस्कार नहीं किया और नाटक अविचारित ढ़ंग से नवीन विचारणाओं को प्रश्रय दिया ।

भारतेंदु का यह योगदान हिन्दी नाट्य साहित्य के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण था । उस समय के ऐतिहासिक नाटकों में राधाकृष्ण दास के **'महाराणा प्रताप'**, **'महारानी पद्मावती'**, तथा **'मीराबाई'** और राधाचरण गोस्वामी का **'अमर सिंह राठोर'** प्रसिद्ध रचनायें हैं । उन सब में राजस्थान के राजपूतों की गौर और गाथाओं का चित्रण है । इन नाटकों के संवाद तथा वस्तु योजना साधारण तथा शिथिल होने पर भी चरित्र-चित्रण में सभी पात्र

उदात्त आदर्श प्रस्तुत करते हैं । भाषा की दृष्टि से भी ये नाटक सामान्य स्तर के ही थे । भारतेंदुकाल नाट्य साहित्य की दिशा में एक विशिष्ट पद्धति को लेकर प्रवृत्त हुआ और भारतेंदु के साथ ही उसका अन्त भी हो गया । उसके बाद बीस पच्चीस वर्ष तक हिन्दी रंगमंच की दशा अत्यंत शोचनीय रही । मौलिक नाटक तो कहीं एक आधा ही लिखा गया । हाँ, अनुवाद कार्य एक दुर्बल प्रयास अवश्य था । द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों की बंगाल में अत्यधिक धूम थी जिससे आकर्षित होकर हिन्दी में भी उनके अनेक नाटक रूपान्तरित करने की चेष्टा की गई । अनुवाद बंगला, संस्कृत और अंग्रेजी से हुए । **मृच्छकटिक, मालती-माधव, उत्तर-रामचरित** आदि संस्कृत से अनुदिन नाटक अत्यन्त सुन्दर थे । गंगाप्रसाद पांडेय, पुरोहित गोपीनाथ, मथुरा प्रसाद उपाध्याय आदि अंग्रेज़ी नाटकों के अनुवादकों में प्रमुख थे । उन्होंने विशेष रूप से शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया । ऐसी ही परिस्थितियों में प्रसाद जी ने हिन्दी नाट्य जगत में पदार्पण किया । इस युग को नाटकों का उत्थान युग या प्रसाद युग कहा जा सकता है ।

12.3. प्रसाद का नाट्य साहित्य

प्रसाद के नाटक क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिन्दी नाट्य साहित्य का काया-कल्प हो गया । आधुनिक हिन्दी नाटकों का पूर्ण साहित्यक स्वरूप इन्हीं के नाटकों में दिखाई दिया । प्रसादजी ने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता का चित्र उपस्थित करने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे । ऐतिहासिक नाटकों को वस्तु संबंधी गरिमा प्रसाद की देन है । स्वछन्दतावादी प्रवृत्तियों के कारण भारत के अतीत इतिहास को अपने नाटकों का विषय बनाया । उन्होंने इतिहास का वह काल लिया, जो संस्कृतिक और भौतिक दृष्टि से भारत का समृद्धि काल माना जाता है । महाभारत काल से आरंभ कर हर्षवर्धन के राज्य काल तक उनके ऐतिहासिक नाटकों का क्षेत्र है । प्राचीन इतिहास को युग के परिप्रेक्ष्य में नवीन सामग्री के साथ प्रस्तुत कर

प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों को गंभीरता प्रदान की है ।

प्रसाद के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी नाट्य कला में मूलभूत परिवर्तन हुए । नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वेचित्र्य आया । प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ । इनके नाटकों में वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों के दर्शन होते है । प्रसाद ने अपने नाटकों में सबसे अधिक बल मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण पर दिया है । इसमें भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य प्रणालियों का सुन्दर समन्वय है । प्रसादजी ने यूरोप में प्रचलित शील वैचित्यवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण ना कर रस विधान और शील वैचित्र्य का सामंजस्य रखा है । प्रसाद के नाटकों को तीन कालों में रखा जा सकता है, 1) प्रारंभिक काल, 2) प्रयोग काल, 3) प्रौढ़ काल

12.3.1. प्रसाद नाटक के प्रारंभिक काल

प्रसाद के आरंभ के चार नाटक है - **सज्जन, प्रायश्चित, 'कल्याणी-परिणय'** और **करूणालय** । उनका साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान नाटक होने पर भी उनकी विकास यात्रा में मिल के पत्थर है । इनमें उन्होंने विभिन्न काल से कथावस्तु का चयन किया है तथा भिन्न शिल्प का प्रयोग किया है, किसी में शास्त्रीय पद्धति का प्रयोग किया है । तो दूसरे में सर्वथा नवीन शैली अपनायी है । ये नाटक प्रारंभ काल के होने के कारण नाटककार की नाट्यकला का स्वरूप स्थिर नहीं हो पाया है । विषय वस्तु की दुष्टि से आरंभ से ही इस बात का संकेत मिलता है कि प्रसाद वैदिक, प्राचीन, संस्कृत साहित्य तथा इतिहास की खोज में लीन है ।

पहला नाटक है **'सज्जन'** जिसका कथानक महाभारत के अंश विशेष से लिया गया है । द्वैत सरोवर के पास के कानन में दुर्योधन आदि मृगया के लिए आते है, चित्रसेन की प्रार्थना को अनसुनी कर मृगया का प्रयत्न करते है, जिससे दोनों पक्षों में युद्ध

होता है । दुर्योधन मित्रों सहित बंदी बना लिया जाता है । अज्ञातवास में रहनेवाले युधिष्ठिर को जब यह घटना ज्ञात होती है तो अर्जुन को बाहुबल से उन्हें मुक्त करने की आज्ञा देता है । चित्रसेन अर्जुन को पहचान लेता है और युद्ध बन्द करने का आदेश देता है । सभी युधिष्ठिर के सामने उपस्थित होते है और दुर्योधन बन्धमुक्त होता है । सभी युधिष्ठिर की क्षमा और सहनशीलता की प्रशंसा करते है और दुर्योधन भी युधिष्ठिर की गरिमा के सम्मुख नतमस्तक होता है ।

'सज्जन' के परीत **'प्रायश्चित'** पाश्चात्य शैली पर लिखा दुखान्त नाटक है । इसके कथानक का संबंध मुसलमानों का भारत पर आक्रमण और शासन की स्थापना से है । जयचन्द पृथ्वीराज से प्रतिशोध लेने के लिए मुहम्मद गोरी को आमंत्रित करता है । युद्ध में पृथ्वीराज की मृत्यु होती है । जयचन्द अपनी सफलता पर खुश होता है । पर आकाश से दो विद्याधरों की तीखी व्यंग्यपूर्ण बातें सुनकर अपने पतित कार्यों के लिए पछताता है । उन विद्याधरों की बातों का उसपर इतना असर होता है कि वह विक्षिप्त हो उठता है । इसी में वह अपना राज्यभार अपने पुत्र और मंत्री को देकर प्रायश्चित के लिए चल पडता है और अंततः आत्महत्या कर लेता है ।

'करूणालय' हिन्दी का प्रथम **'गीति-नाट्य'** है । उसका कथानक वैदिक साहित्य से लिया गया है । वरूण के प्रति पुत्राबलि के लिए प्रतिश्रुत महाराज हरिश्चन्द्र की प्रतिज्ञा पूर्ति के लिए उनका पुत्र रोहित अजीगर्त के पुत्र शुनःशेष को क्रय करके आता है और बलि के उपक्रम के अवसर पर ही शुनःशेष की माता न्याय की भिक्षा मांगने आ जाती है तथा विश्वामित्र और वशिष्ट की उपस्थिति में करूणालय की कृपा से सब कुछ ठीक हो जाता है । उसें विश्वमानवता तथा बौद्ध करूणा का स्वर मुखर है । **'कल्याणी परिणय'** एक एकांकी है । इसकी विषय वस्तु का संबंध उस ऐतिहासिक घटना से है, जिसमें चन्द्रगुप्त अपने बाहुबल से नन्दवंश

का नाश करता है तथा सिल्यूकस को पराजित कर उसकी कन्या कार्नेलिया से विवाह करता है । यहाँ कार्नेलिया ही कल्याणि है । इस विवाह से दोनों पक्षों का कल्याण तथा दोनों में स्थायी मैत्री की स्थापना होती है । चन्द्रगुप्त अपने ससुर सिल्यूकस की सहायता के लिए सेनापति चंडविक्रम को नियुक्त करता है ।

12.3.2. प्रसाद नाटक के प्रयोग काल

प्रसाद के नाटकों के विकास क्रम का द्वितीय सोपान - **'राज्यश्री'** के निर्माण से आरंभ होता है । **राज्यश्री** सर्वप्रथम प्रसाद की नारी भावना की उदात्त कल्पना के रूप में हमारे सामने आती है जो नारीजनोचित समस्त गुणों का समाहार स्थल है । एक ओर वह ऐसी रूपशिखा है, जिसपर अनेक भौरें अपने को होम कर देते हैं, दूसरी ओर वह सच्चरित्रता की प्रतिमूर्ति, दानशीलता, उदारता और आत्मगौरव से भरी हुई क्षत्राणी है । शान्तिभिक्षु एक कपटीभिक्षु है और अपनी वासना-तृप्ति के लिए पर्याय से सुरमा और राज्यश्री की ओर झुकता है । सुरमा छद्मवेषी मालव-नरेश देवगुप्त की प्रेमिका बन जाती है और मन्दिर में पूजा करने के अवसर पर भयभीत करके राज्यश्री बन्दिनी बनाई जाती है तथा ग्रह वर्मा मालव सेना द्वारा माने जाते है । देवगुप्त कनौज का शासक बन जाता है । गोडश्वर नरेन्द्र गुप्त के साथ राज्यवर्धन कन्नोज पर आक्रमण करके देवगुप्त को मार डालता है किन्तु विकटघोष (शान्तिभिक्षु) छलापूर्वक राज्यश्री को निकाल कर ले जाता है । नरेन्द्र गुप्त विकटघोष और सुरमा से राज्यवर्धन की हत्या करा देता है । इसी बीच दो डाकू राज्यश्री को ले भागते है । किसी प्रकार दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुँचकर जब राज्यश्री सती होने का उपक्रम करती है उसी समय हर्ष पुलकेशिन से सन्धि करके उसके साथ ही समय पर पहुँचकर राज्यश्री की रक्षा करते है तथा सुयेनच्वांग से प्रभावित होकर काषाय धारण कर भिक्षु के रूप में राज्य करने लगते है तथा सभी अपराधियों को क्षमा कर देते है ।

'राज्यश्री' के लगभग छः वर्ष बाद **'विशाख'** की रचना प्रसादजी ने की उसमे राजतरंगिणी की एक कथा का आश्रय लिया गया है । **विशाख** तक्षशिला विश्व-विद्यालय का एक स्नातक है जो पहले ही यह समझ लेता है कि यौवन को सुख का सन्देश वाहक समझना भूल है । उसने अपने गुरू प्रेमानन्द से सेवाभाव और परदुःख कातरता की शिक्षा ले रखी है । उसी अभिजात्य को लेकर वह नाग सरदार सुश्रवा की दो कन्याओं शरावती और चन्द्रलेखा का पगपग पर त्राण करता है । उसका प्रणय चन्द्रलेखा से हो जाता है, वही उसके चरित्र का प्रेरक तत्व है और उसी से परिचालित होकर वह पुरूषार्थ तथा अन्याय प्रतिकार में प्रवृत होता है । उसका सारा जीवन चन्द्रलेखा के प्रेम से अनुप्राणित है । इसीज़िए वह अनेक कार्य व्यापरों में संलग्न है तथा अनेक साहसिक कार्यों में सफलता प्राप्त करता है ।

'राज्यश्री' तथा **'विशाख'** प्रसाद की प्रौढ़कला की सीमा में नहीं आते । इनका नाटक वस्तुविधान ही चमत्कारपूर्ण है, नाटक चरित्र-चित्रण में ही प्रौढ़ता है और संवादों में वाक्य विन्यास भी उच्च कला का परिचय नहीं देते । अतः ये दोनों नाटक उनके नाट्यसाहित्य के प्रारंभिक काल का परिचय देते है ।

12.3.3. प्रसाद नाटक के प्रौढ़काल

प्रसाद की प्रौढ़कालीन कृतियाँ हैं **'अजातशत्रु'**, **'स्कन्दगुप्त'**, तथा **'चन्द्रगुप्त'** प्रसाद के ये सब नाटक वस्तु विन्यास, चरित्र-चित्रण तथा कथोपकथन आदि सभी दृष्टियों से अत्यन्त सुगठित और सुसम्बद्ध प्रतीत होते है । 'अजातशत्र' में मगध को धुरी बनाकर, मगध काशी, कोशल, कौशाम्बी की राज्यक्रांति, सामाजिक क्रांति और धार्मिक क्रांति का चित्रण किया गया है । **'स्कन्दगुप्त'** में भारत में हूणों की दुरभि-सन्धि पूर्णरूप में क्रेयाशील है और राज्यलोलुप अनन्तदेवी अपने पुत्र पुरुगुप्त को ाज्यसिंहासन परबिठाने के लिए बड़े से बड़े अनर्थ करने पर ातारू हो जाती है । उसके सहायक है प्रपंचबुद्धि, भट्टार्क

आदि है । ये राज्यप्राप्ति के लिए हूणों की दुरभि-सन्धि में भी सम्मिलित हो जाते है । दूसरी ओर देशभक्तों का दल जिसमें प्रमुख है स्कन्दगुप्त और उनके सहायक है मालव नरेश बन्धुवर्मा, पृथ्वीसेन, पूर्णदत्त आदि । संघर्ष और युद्ध में भट्टार्क की दुर्वृत्तता और प्रपंचना से परास्त होकर स्कन्दगुप्त केवल पराजित ही नहीं हो जाता एक बार नाटक की दुखान्तता का अवसर भी उपस्थित हो जाता है । किन्तु बाद में पुनः सैनिक तैयारी करके जीतकर नाटक को सुखमय बना दिया जाता हे । **'चद्रगुप्त'** भी प्रसाद के सर्वोत्तम नाटकों में एक है । उसमें सिल्यूकस के साथ चन्द्रगुप्त और चाणक्य का संघर्ष दिखलाकर अन्त में चन्द्रगुप्त की विजय और कार्नेलिया से उनके परिणय के साथ नाटक समाप्त होता है ।

प्रसाद ने केवल एक पौराणिक नाटक **'जनमेजय का नाग - यज्ञ'** लिखा । उसमें जनमेजय द्वारा नागयज्ञ की पौराणिक कला को कवि ने आर्य और नागजाति के संघर्ष के ऐतिहासिक रूप में देखने की चेष्टा की है । तक्षक सर्प नहीं अपितु अर्जुन ने खाण्डवदाह में नागजाति को पीड़ित किया था जिसका बदला लेने के लिए नागजाति ने क्रान्ति की तथा परिक्षित की हत्या कर दी । क्रान्ति का उपशमन परीक्षित के उत्तराधिकारी जनमेजय ने किया । फलतः दोनों जातियों में मित्रता हो गई उसका सुफल भारत अनन्त काल तक भोगता रहा ।

इस प्रकार हम देखते है कि प्रसाद ने विषय-वस्तु को गंभीरता प्रदान की है । पुराण-इतिहास और पुरातत्व के अध्ययन से उसे नवीन वस्तु से सुशोभित किया है । प्रसाद के नाटकों का वस्तु संगठन नाट्य शास्त्र के अनुसार सर्वथा निर्दोष नाटक होते हुए भी नाटकों के अन्य पक्ष प्रसाद की विशिष्टता के परिचयक है । दर्शन, संस्कृति, मानव तथा मानवतावाद का जितना विस्तृत और हृदयग्राहि रूप प्रसाद के नाटकों में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।

प्रसाद का युग राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक

उथल-पुथल का युग था । अतः अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता के विषय में सोचना भी आवश्यक था । इसलिए प्रसाद ने अतीत की ओर देखा । पददलित जाति के लिए उसका गौरवपूर्ण अतीत बड़ा आकर्षक हो सकता था । दूसरा कारण यह था कि प्रसाद मूलतः दार्शनिक थे, और वह भी ऐसे दार्शनिक, जो दर्शन को व्यावहारिक जीवन में उतारने और उसका उपयोग करने में आस्था रखते थे । उनका विचार था कि अखण्ड भारतीयता का संस्कृतिक पुनरूत्थान यदि संभव है तो प्राचीन भारतीयता के उज्जवलतम उदाहरणों को ही भारतीयों के सम्मुख रखना चाहिए । उसके लिए वे प्राचीन भारत और नवीन युग को साथ लेकर चले । ऐतिहासिक अनुशीलन और नवीन कल्पना के प्रयोग से उन्होंने नाट्यकला में नवीनता की उद्‌भावना की । उनके नाटकों में पाई जाने वाली अन्तर्द्वन्द्व की प्रधानता पश्चिम की देन है । उनके नाटकों मे ऐतिहासिकता होते हुए भी आधुनिकता की छाप है । इस प्रकार उनकी संस्कृतिक पुनरूत्थान की भावना, दार्शनिक चिन्तन, उनके स्वाभाविक चरित्र कल्पना, उनका राष्ट्रीयता के प्रति आग्रह, उनका संघर्ष के विष से जीवन के अमृत की खोज का प्रयत्न तथा नाट्य कला और भाषा का अत्यन्त परिमार्जित रूप आदि ऐसी बातें हैं जो उन्हें हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ नाटककार घोषित करती है और उनकी रचनाओं को स्थायी साहित्य बना देती है ।

निस्कर्षतः हम कह सकते है कि प्रसाद के नाटक हिन्दी साहित्य की विभूति है । अन्य साहित्य विधओं की तुलना में अपेक्षाकृत निर्धन हिन्दी नाट्यक्षेत्र उनसे समृद्ध हुआ । परिमाण और गुण, दोनों की दृष्टियों से प्रसाद के नाट्य साहित्य का अपना महत्व है । उसमें ऐसी गरिमा है जिसने अनेकानेक नाट्य अध्येताओं शोधकर्ताओं और रंगकर्मियों को आकृष्ट और प्रभावित किया है । प्रसाद के नाटकों में एक विशेष प्रकार का उदात्त तत्व है जो उन्हें महत्वपूर्ण बनाता है । इनमें भारत की संस्कृतिक गौरव गरिमा और राष्ट्रीय चेतना को वाणी मिली है । इनमें एक प्रबुद्ध वैयक्तित्व का चिंतन व्यक्त हुआ है, एक संवेदनशील कवि की

भावुकता मुखरित हुई है । विषयवस्तु और चेतना की दृष्टि से प्रसाद के नाटक अवश्य ही मूल्यवान है ।

12.4. प्रसाद के नाटक में ऐतिहासिकता

प्रसादजी के नाटक अधिकांश ऐतिहासिक है । प्रसादजी ने अपने नाटकों के लिए भारतीय इतिहास का ऐसा काल चुना है जो उनकी दृष्टि में स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है । यदि इतिहास को आधार बनाकर उनके समस्त नाटकों को वर्गीकृत किया जाय तो यह सिद्ध होगा कि महाभारत के युद्ध के बाद परीक्षित-पुत्र जनमेजय के नागयज्ञ से प्रारंभ कर उन्होंने महाराज हर्ष तक का समय अपने नाटकों की कथावस्तु के लिए लिया है । हर्ष का अन्त ही भारतीय इतिहास की वह सीमा है जहाँ से हमारे समाज, संस्कृति, राष्ट्र और धर्म सभी का पराभव का आरंभ हो जाता है । इस प्रकार उनके नाटकों का आधार इतिहास का स्वर्णयुग ही बना है । प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखने का अपना उद्देश्य इन शब्दों में व्यक्त किया है, ''इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है । हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बैठकर उपयुक्त और भी कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है । मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयत्न किया है ।

कालक्रम से ऐतिहासिक नाटकों की योजना करने पर सबसे पहले **'जनमेजय का नागयज्ञ'** हमारे सामने आता है । उसकी कथा तो पुराणों से ली गई है किन्तु उसे ऐतिहासिक पर्यावरण में रखने की चेष्टा की गई है । दूसरा नाटका **'अजातशत्रु'** है । वह भगवान बुद्ध के समय की राजनैतिक स्थिति का चित्रण करता है । इस नाटक में चार राजघरानों के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण किया गया है । विशेषतः मगध और कोशल का संघर्ष दिखलाया

गया है । **'चन्द्रगुप्त'** में मौर्य काल का इतिहास है जिसमें चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के संघर्ष का वर्णन है और उसका अधिनायक चाणक्य है । **'धृवस्वामिनी'** चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कथानक से सम्बद्ध है जिसमें कमजोर रामगुप्त का दमनकर और शकों की बढी-चढ़ी शक्ति को पराजित कर चन्द्रगुप्त शासनासीन हो जाता है । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर शकारि की उपाधि धारण की थी तो **स्कन्दगुप्त** ने हुणों का संहार किया था । **'स्कन्दगुप्त'** नाटक में उसी विजय का वर्णन है । **'राज्यश्री'** में देश की अस्तव्यस्त अवस्था का वर्णन है तथा महाराज हर्ष की त्यागमूर्ति का चिण्ण किया गया है । इसी प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटकों के माध्यम से एक विस्तृत तथा व्यापक काल के इतिहास को आवेष्टित कर जिया है ।

12.5. प्रसाद के नाटकों में चरित-चित्रण

प्रसाद के नाटकों के चरित्र लोगों का युगों तक स्मरण रह सकते हैं । वे मानव जीवन के सच्चे-दृष्टा थे । इसलिए उनके नाटकीय पात्र जीवन की समस्त उष्मा एवं शक्ति के साथ जीते है । वस्तुतः उनके नाटकीय पात्र (चरित्र) बाह्य जगत् या इतिहास के ख्यात मानव तो हैं ही, इसके अतिरिक्त वे अपने स्त्रष्टा की समग्र आंतरिक चेतना के आत्मज भी है ।

प्रसाद जी ने अनेक सत्पात्रों की कल्पना की है तथा अनेक महात्माओं की अवतारणा की है जिका प्रभाव सार्वभौम होता है । धीरोदात्त चरित्र के चित्रण में उन्हें पर्याप्त पटुता प्राप्त है । उनके महान पात्र **तितिक्षा** और वैराग्य की भावना से भरे हुए है । ये किसी नाटक किसी रूप में राज्य की ओर निरपेक्षी हुआ करते है । **बिंबसार** सपलिक संन्यास लेता है । **स्कन्दगुप्त** प्रारंभ से ही विरक्त है और आर्य साम्राज्य के उद्धार को अपना कर्तव्य समझ कर युद्ध में निरंतर निरत रहता है किन्तु अपने को केवल एक सैनिक की हैसियत में रखकर । **हर्ष** आर्य साम्राज्य का उद्धार करके और सम्राट होकर अंकिचनता को ही अधिक पसंद करता है । **जनमेजय**

सर्वाधिक क्रूर है किन्तु वह भी साम्राज्य को एक बोझ समझने लगता है ।

प्रसाद के चरित्रों में अन्तर्मुखता की प्रधानता है । वे पात्रों के बाह्य की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्व देते है । उनके पात्रों को समझना सरल नहीं है । उनके अंतर और बाहर में पर्याप्त अंतर होता है । **स्कन्दगुप्त, देवसेना, चाणक्य, बिंबसार, मल्लिका** आदि पात्रों के चित्रण में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व का अधिक स्पष्ट चित्रण किया है । **जयमाला** की समझ में नहीं आता कि **देवसेना** हँसती है या रोती, **कात्यायन** को चाणक्य का हँसना क्रोध से अधिक भीषण लगता है । उनके बहुत से पात्र इतनी गूढ़ प्रकृति के है कि उनको समझना कठिन है ।

प्रसाद ने स्त्री पात्रों के चित्रण में अधिक उदारता दिखाई है । उनके स्त्री पात्रों की स्वतन्त्र सत्ता है । वे पुरूषों के पीछे चलने वाली कठपुतलियाँ ही नहीं है, उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, उनका अपना वैयक्तिक चरित्र है, उनका अपना मानस है । प्रसाद जी के स्त्री पात्र दो प्रकार के है । निन्दनीय भी और उदात चरित्र वाले भी । कतिपय नारियाँ स्वार्थपरायण, कुल कलंकिनी, देशद्रोहिणी और वासना की पुतली है । तथा दूसरी ओर कुछ नारियों का चरित्र इतना उच्चकोटि का हो गया है कि पुरूष पात्र वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते । एक ओर उनके प्रभाव से पुरूष जाति को त्याग, उदारता, वीरता और कर्तव्यपरायणता की प्रेरणा प्राप्त होती है तो दूसरी ओर दुष्ट, दुराचारी उनकी छाया में उदात्त भावनाओं से भर जाते है ।

12.6. प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच

विधागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का महत्व विवादग्रस्त रहा है । नाटक रंगमंच के लिए होता है और इसे रंगमंच पर अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए । पर प्रसाद के नाटक ऐसा नहीं कर सके । प्रारंभ से ही उनके नाटक

अध्ययन-अद्यापन के विषय बने रहे है । रंगशालाओं में ये बहुत कम आ पाए और जहाँ आए भी, दर्शकों पर अपेक्षित प्रभाव छोड़ नहीं पाये । प्रसाद के नाटकों में दो तरह के विचार प्राप्त होते हैं, एक ओर अध्येता कहता है कि 'नाटक और जीवन को एक मानने के कारण समीक्षकों ने प्रसाद का जो मूल्यांकन किया उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उन जैसा जीवन्त नाटककार केवल विश्वविद्यालयों का नाटककार बन कर रह गया । जबकि दूसरी ओर नाट्य निर्देशक कहता है कि, यह हिन्दी नाटक और नाटककार प्रसाद का दुर्भाग्य रहा कि हिन्दी को अच्छा निर्देशक नहीं मिल सका और प्रदर्शन से नाटककार को दिशासंकेत ।' प्रसाद के नाटकों को 'रंगमंचीय सफलता यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण के कारण नहीं मिल सकी । प्रसाद के जीवनकाल में तथा उसके बाद भी कुछ नाटकों को खेलनें की चेष्टा की गयी, पर उन प्रदर्शनों में यथार्थता का कलेवर ही प्रदर्शनों की असफलता का प्रमुख कारण रहा ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि प्रसाद मूलतः कवि हैं । रंगमंच से उनका प्रत्यक्ष संबंध भी नहीं रहा है । अतः कवि प्रसाद नाटककार प्रसाद का मानसिक स्थिति में नही आए और उसका प्रभाव उनकी नाट्यरचना पर पड़ा । उन्होंने अपने नाटकों को कवि की दृष्टि से देखा, दर्शकों की दुष्टि से नहीं । यहाँ केवल भाव भाव-विचार की जटिलता, भाषा की दुरूहता और नाटकों की बोधगम्यता का प्रश्न नहीं उठता, प्रश्न उठता है अंतिम प्रभावसृष्टि का । नाटक का उद्देश्य कुछ भी हो, किसी भी विषस को आधार बनाकर वह लिखा गया हो, दर्शकों पर उसका एक निश्चित रागात्मक प्रभाव पड़ना चाहिए । यह प्रभाव कार्यव्यापार, भाव, विचार, उद्देश्य आदि में से एक या अनेक की अन्वितियों से उत्पन्न होता है । प्रसाद के बड़े नाटकों में यह प्रभाव नहीं निर्मित हो पाता । उसका कारण यह है कि प्रसाद एक साथ अनेक प्रभाव लेकर चलते है । एक ही नाटक में अनेक उद्देश्य सिद्ध करने का आग्रह भी है । अपने अध्ययन से उपलब्ध नए-पुराने ऐतिहासिक

तथ्यों को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने का आग्रह भी है, चिंतन और भावुकता के अपने आवेगों को व्यक्त करने का आग्रह भी है । प्रमुख पात्रों के साथ अनेक गौण पात्रों को भी पूर्ण रूप से चित्रित करने का आग्रह भी है । इन सबका अनियंत्रित हो जाना नाटक की दुर्बलता है ।

पर ऐसा भी नहीं है कि प्रसाद के नाटकों में आकर्षण ही नहीं है, और अनेक तरह से हैं । प्रसाद की नाट्यकला एक अत्यन्त सजग एवं विकासशील रचनाकार की विकास यात्रा है । उनका नाट्यसाहित्य हिन्दी नाटक के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है । हिन्दी नाटक के विकास में उसे एक मजबूत कडी के रूप में देखा जा सकता है ।

12.7. नाट्य कला का टेकनिक

प्रसाद जी ने आरंभ से ही अपनी नाट्य रचना के लिए एक टेकनिक की परिकल्पना कर ली थी । किन्तु उस टेकनिक को परिपूर्णता तक ले जाने के लिए अभ्यास अपेक्षित था । यदि उनके नाटकों का क्रमानुगत अनुशीलन किया जाय तो यह स्पष्ट होता जाता है कि उनकी नाट्यकला क्रमशः विकसित होती गई है और इस प्रकार प्राचीन परिपाटी से विकसित कर उन्होंने अपनी कला को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया । 'विशाख' के बाद उनकी एक ही प्रकार की शैली तथा विचार पद्धति विकसित होती गई । उसके केवल दो चार अपवाद मिलेंगे जैसे 'करूणालय' गीति नाट्य है, 'कामना' रूपक है और 'एक घूँट' आधुनिक संकेतवाद के अन्तर्गत आता है और विशेषता यह है कि प्रसाद जी ने अपने प्रयास में कहीं भद्‌छापन नहीं आने दिया है । उनकी शैली सभी प्रकार की रचनाओं से प्रतिभा की छाप लिए हुए ही दृष्टिगत होती है ।

प्रसाद जी के सामने नाट्य-कला के दो प्रकार के आदर्श विद्यमान थे - भारतीय और पाश्चात्य । इनकी कला की सबसे बडी विशेषता यह है कि उन्होंने दोनों शैलियों का समन्वय प्रस्तुत

किया है । प्रारंभिक नाटकों में संस्कृत तथा हिन्दी की पुराना शैली के दर्शन होते हैं जिसमें नान्दी पाठ, सूत्रधार, ...प्रस्तावना, भरत वाक्य आदि सभी कुछ प्राचीन शैली पर लिखा गया है ।..... बीच में पद्यों का प्रयोग भी पुरानी शैली पर ही होता है । धीरे-धीरे .....नता का यह मोह छूटता जाता है और कवि अर्वाचीन प्रवृति की ओर अधिक झुकता जाता है । कहीं कहीं आकाशभाषित जैसी घोर प्राचीनतावादी शैली भी परिलक्षित होती है, किन्तु नवीनता के इस विकास में भारतीयता कहीं भी तिरोहित नहीं होती । साथ ही पाश्चात्य नाट्य कला की विशेषताएँ भारतीय मनोवृति के अनुकूल संग्रहणीय है । प्रसाद जी ने 'विशाख', 'राज्यश्री', 'कामना', 'करूणालय' आदि में पाश्चात्य टेकनिक अपनाते हुए भी भरत वाक्य ही योजना कर भारतीय नाट्यकला का समन्वय प्रस्तुत कर दिया है ।

12.8. बोध प्रश्न - नमूने उत्तर

1. सिद्ध कीजिए प्रसाद एक श्रेष्ठ नाटककार है ।

अथवा

जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर एक निबंध लिखिए ।

उत्तर : जयशंकर प्रसाद के नाटक क्षेत्र में अवतीर्ण होने से हिन्दी नाट्य साहित्य का काया-कल्प हो गया । आधुनिक हिन्दी नाटकों का पूर्ण साहित्यक स्वरूप इन्हीं के नाटकों में दिखाई दिया । प्रसादजी ने गंभीर ऐतिहासिक अध्ययन के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव और सभ्यता का चित्र उपस्थित करने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे । ऐतिहासिक नाटकों को वस्तु संबंधी गरिमा प्रसाद की देन है । स्वछन्दतावादी प्रवृत्तियों के कारण भारत के अतीत इतिहास को अपने नाटकों का विषय बनाया । उन्होंने इतिहास का वह काल लिया, जो संस्कृतिक और भौतिक दृष्टि से भारत का समृद्धि काल माना जाता है । महाभारत काल से आरंभ कर हर्षवर्धन के राज्य काल तक उनके ऐतिहासिक नाटकों का क्षेत्र है । प्राचीन इतिहास को युग के परिप्रेक्ष्य में नवीन सामग्री के

साथ प्रस्तुत कर प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटकों को गंभीरता प्रदान की है ।

प्रसाद के प्रयत्न और प्रभाव से हिन्दी नाट्य कला में मूलभूत परिवर्तन हुए । नाटकों के बाह्य आकार और अवयवों के विन्यास में वैचित्र्य आया । प्राचीन नाट्य शास्त्र में वर्जित दृश्यों आदि का दिखाया जाना तथा अन्य अनेक नियमों का उल्लंघन हुआ । इनके नाटकों में वध, आत्महत्या, युद्ध आदि वर्जित दृश्यों के दर्शन होते है । प्रसाद ने अपने नाटकों में सबसे अधिक बल मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण पर दिया है । इसमें भारतीय और यूरोपीय दोनों नाट्य प्रणालियों का सुन्दर समन्वय है । प्रसादजी ने यूरोप में प्रचलित शील वैचित्रवाद का पूर्ण रूप से अनुकरण नाटक कर रस विधान और शील वैचित्र्य का सामंजस्य रखा है । प्रसाद के नाटकों को तीन कालों में रखा जा सकता है, 1) प्रारंभिक काल, 2) प्रयोग काल, 3) प्रौढ़ काल

2. प्रसाद के नाटकों के चरित्रों पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर : प्रसाद के नाटकों के चरित्र लोगों का युगों तक स्मरण रह सकते हैं । वे मानव जीवन के सच्चे-दृष्टा थे । इसलिए उनके नाटकीय पात्र जीवन की समस्त उष्मा एवं शक्ति के साथ जीते है । वस्तुतः उनके नाटकीय पात्र (चरित्र) बाह्य जगत या इतिहास के ख्यात मानव तो हैं ही, इसके अतिरिक्त वे अपने स्त्रष्टा की समग्र आंतरिक चेतना के आत्मज भी है ।

प्रसाद जी ने अनेक सत्पात्रों की कल्पना की है तथा अनेक महात्माओं की अवतारणा की है जिनका प्रभाव सार्वभौम होता है । धीरोदात्त चरित्र के चित्रण में उन्हें पर्याप्त पटुता प्राप्त है । उनके महान पात्र तितिक्षा और वैराग्य की भावना से भरे हुए है । ये किसी नाटक किसी रूप में राज्य की ओर निरपेक्षी हुआ करते है । बिंबसार सपलिक संन्यास लेता है । स्कन्दगुप्त प्रारंभ से ही विरक्त है और आर्य साम्राज्य के उद्धार को अपना कर्तव्य समझ कर युद्ध में निरंतर निरत रहता है किन्तु अपने को केवल एक सैनिक की

हैसियत में रखकर । हर्ष आर्य साम्राज्य का उद्धार करके और सम्राट होकर अंकिचनता को ही अधिक पसंद करता है । जनमेजय सर्वाधिक क्रूर है किन्तु वह भी साम्राज्य को एक बोझ समझने लगता है ।

प्रसाद के चरित्रों में अन्तर्मुखता की प्रधानता है । वे पात्रों के बाह्य की अपेक्षा अन्तर्द्वन्द्व को अधिक महत्व देते है । उनके पात्रों को समझना सरल नहीं है । उनके अंतर और बाहर में पर्याप्त अंतर होता है । स्कन्दगुप्त, देवसेना, चाणक्य, बिंबसार, मल्लिका आदि पात्रों के चित्रण में नाटककार ने अन्तर्द्वन्द्व का अधिक स्पष्ट चित्रण किया है । जयमाला की समझ में नहीं आता कि देवसेना हँसती है या रोती, कात्यायन को चाणक्य का हँसना क्रोध से अधिक भीषण लगता है । उनके बहुत से पात्र इतनी गूढ़ प्रकृति के है कि उनको समझना कठिन है ।

प्रसाद ने स्त्री पात्रों के चित्रण में अधिक उदारता दिखाई है । उनके स्त्री पात्रों की स्वतन्त्र सत्ता है । वे पुरूषों के पीछे चलने वाली कठपुतलियाँ ही नहीं है, उनका अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व है, उनका अपना वैयक्तिक चरित्र है, उनका अपना मानस है । प्रसाद जी के स्त्री पात्र दो प्रकार के है । निन्दनीय भी और उदात चरित्र वाले भी । कतिपय नारियाँ स्वार्थपरायण, कुल कलंकिनी, देशद्रोहिणी और वासना की पुतली है । तथा दूसरी ओर कुछ नारियों का चरित्र इतना उच्चकोटि का हो गया है कि पुरूष पात्र वहाँ तक पहुँच ही नहीं पाते । एक ओर उनके प्रभाव से पुरूष जाति को त्याग, उदारता, वीरता और कर्तव्यपरायणता की प्रेरणा प्राप्त होती है तो दूसरी ओर दुष्ट, दुराचारी उनकी छाया में उदात्त भावनाओं से भर जाते है ।

3. प्रसाद के नाटकों की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालिए ।

उत्तर : प्रसादजी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक है । प्रसादजी ने अपने नाटकों के लिए भारतीय इतिहास का ऐसा काल

चुना है जो उनकी दृष्टि में स्वर्णयुग कहलाने का अधिकारी है यदि इतिहास को आधार बनाकर उनके समस्त नाटकों को वर्गीकृत किया जाय तो यह सिद्ध होगा कि महाभारत के युद्ध के बाद परीक्षित-पुत्र जनमेजय के नागयज्ञ से प्रारंभ कर उन्होंने महाराज हर्ष तक का समय अपने नाटकों की कथावस्तु के लिए लिया है । हर्ष का अन्त ही भारतीय इतिहास की वह सीमा है जहाँ से हमारे समाज, संस्कृति, राष्ट्र और धर्म सभी का पराभव आरंभ हो जाता है । इस प्रकार उनके नाटकों का आधार इतिहास का स्वर्णयुग ही बना है । प्रसाद ने ऐतिहासिक नाटक लिखने का अपना उद्देश्य इन शब्दों में व्यक्त किया है, 'इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिये अत्यन्त लाभदायक होता है । हमारी गिरी दशा को उठाने के लिये हमारे जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बैठकर उपयुक्त और भी कोई आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें मुझे पूर्ण सन्देह है । मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंश में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने में बहुत प्रयत्न किया है ।

कालक्रम से ऐतिहासिक नाटकों की योजना करने पर सबसे पहले 'जनमेजय का नागयज्ञ' हमारे सामने आता है । उसकी कथा तो पुराणों से ली गई है किन्तु उसे ऐतिहासिक पर्यावरण में रखने की चेष्टा की गई है । दूसरा नाटका 'अजातशत्रु' है । वह भगवान बुद्ध के समय की राजनैतिक स्थिति का चित्रण करता है । इस नाटक में चार राजघरानों के पारस्परिक संघर्ष का चित्रण किया गया है । विशेषतः मगध और कोशल का संघर्ष दिखलाया गया है । 'चन्द्रगुप्त' में मौर्य काल का इतिहास है जिसमें चन्द्रगुप्त और सिल्यूकस के संघर्ष का वर्णन है और उसका अधिनायक चाणक्य है । 'ध्रुवस्वामिनी' चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के कथानक से सम्बद्ध है जिसमें कमजोर रामगुप्त का दमनकर और शकों की बढी-चढ़ी शक्ति को पराजित कर चन्द्रगुप्त शासनासीन हो जाता है । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों को पराजित कर शकारि की उपाधि

धारण की थी तो स्कन्दगुप्त ने हूणों का संहार किया था । 'स्कन्दगुप्त' नाटक में उसी विजय का वर्णन है । 'राज्यश्री' में देश की अस्तव्यस्त अवस्था का वर्णन है तथा महाराज हर्ष की त्यागमूर्ति का चित्रण किया गया है । इसी प्रकार प्रसाद जी ने अपने नाटकों के माध्यम से एक विस्तृत तथा व्यापक काल के इतिहास को आवेष्टित कर दिया है ।

4. प्रसाद के नाटक तथा रंगमंच पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए ।

उत्तर : विधागत वैशिष्ट्य की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों का महत्व विवादग्रस्त रहा है । नाटक रंगमंच के लिए होता है और इसे रंगमंच पर अपनी सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए । पर प्रसाद के नाटक ऐसा नहीं कर सके । प्रारंभ से ही उनके नाटक अध्ययन-अद्यापन के विषय बने रहे है । रंगशालाओं में ये बहुत कम आ पाए और जहाँ आए भी, दर्शकों पर अपेक्षित प्रभाव छोड़ नहीं पाये । प्रसाद के नाटकों में दो तरह के विचार प्राप्त होते हैं, एक ओर अध्येता कहता है कि 'नाटक और जीवन को एक मानने के कारण समीक्षकों ने प्रसाद का जो मूल्यांकन किया उसका एक दुष्परिणाम यह हुआ कि उन जैसा जीवन्त नाटककार केवल विश्वविद्यालयों का नाटककार बन कर रह गया । जबकि दूसरी ओर नाट्य निर्देशक कहता है कि, यह हिन्दी नाटक और नाटककार प्रसाद का दुर्भाग्य रहा कि हिन्दी को अच्छा निर्देशक नहीं मिल सका और प्रदर्शन से नाटककार को दिशासंकेत ।' प्रसाद के नाटकों को 'रंगमंचीय सफलता यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण के कारण नहीं मिल संकी । प्रसाद के जीवनकाल में तथा उसके बाद भी कुछ नाटकों को खेलने की चेष्टा की गयी, पर उन प्रदर्शनों में यथार्थता का कलेवर ही प्रदर्शनों की असफलता का प्रमुख कारण रहा ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि प्रसाद मूलतः कवि हैं । रंगमंच से उनका प्रत्यक्ष संबंध भी नहीं रहा है । अतः कवि प्रसाद नाटककार प्रसाद का मानसिक स्थिति में नहीं आए और उसका

प्रभाव उनकी नाट्यरचना पर पड़ा । उन्होंने अपने नाटकों को कवि की दृष्टि से देखा, दर्शकों की दुष्टि से नहीं । यहाँ केवल भाव भाव-विचार की जटिलता, भाषा की दुरूहता और नाटकों की बोधगम्यता का प्रश्न नहीं उठता, प्रश्न उठता है अंतिम प्रभावसृष्टि का । नाटक का उद्देश्य कुछ भी हो, किसी भी विषय को आधार बनाकर वह लिखा गया हो, दर्शकों पर उसका एक निश्चित रागात्मक प्रभाव पड़ना चाहिए । यह प्रभाव कार्यव्यापार, भाव, विचार, उद्देश्य आदि में से एक या अनेक की अन्वितियों से उत्पन्न होता है । प्रसाद के बड़े नाटकों में यह प्रभाव नहीं निर्मित हो पाता । उसका कारण यह है कि प्रसाद एक साथ अनेक प्रभाव लेकर चलते है । एक ही नाटक में अनेक उद्देश्य सिद्ध करने का आग्रह भी है । अपने अध्ययन से उपलब्ध नए-पुराने ऐतिहासिक तथ्यों को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने का आग्रह भी है, चिंतन और भावुकता के अपने आवेगों को व्यक्त करने का आग्रह भी है । प्रमुख पात्रों के साथ अनेक गौण पात्रों को भी पूर्ण रूप से चित्रित करने का आग्रह भी है । इन सबका अनियंत्रित हो जाना नाटक की दुर्बलता है ।

पर ऐसा भी नहीं है कि प्रसाद के नाटकों में आकर्षण ही नहीं है, और अनेक तरह से हैं । प्रसाद की नाट्यकला एक अत्यन्त सजग एवं विकासशील रचनाकार की विकास यात्रा है । उनका नाट्यसाहित्य हिन्दी नाटक के इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है । हिन्दी नाटक के विकास में उसे एक मजबूत कडी के रूप में देखा जा सकता है ।

NOTES

NOTES

ಆದೇಶ ಸಂಖ್ಯೆ : ಕರಾಮುವಿ/ಅಸಾವಿ/4-060/2013-2014 ದಿನಾಂಕ : 24-09-2013
ಒಳಪುಟ : 60 GSM MPM ವೈಟ್ ಪ್ರಿಂಟಿಂಗ್ ಪೇಪರ್ ಮತ್ತು ಹೊರಪುಟ: 170 GSM ಆರ್ಟ್‌ಕಾರ್ಡ್
ಮುದ್ರಕರು : ಅಭಿಮಾನಿ ಪಬ್ಲಿಕೇಷನ್ ಲಿ., ಬೆಂಗಳೂರು-10 ಪ್ರತಿಗಳು : 1,200

Karnataka State Open University

Manasagangotri Mysore - 570 006

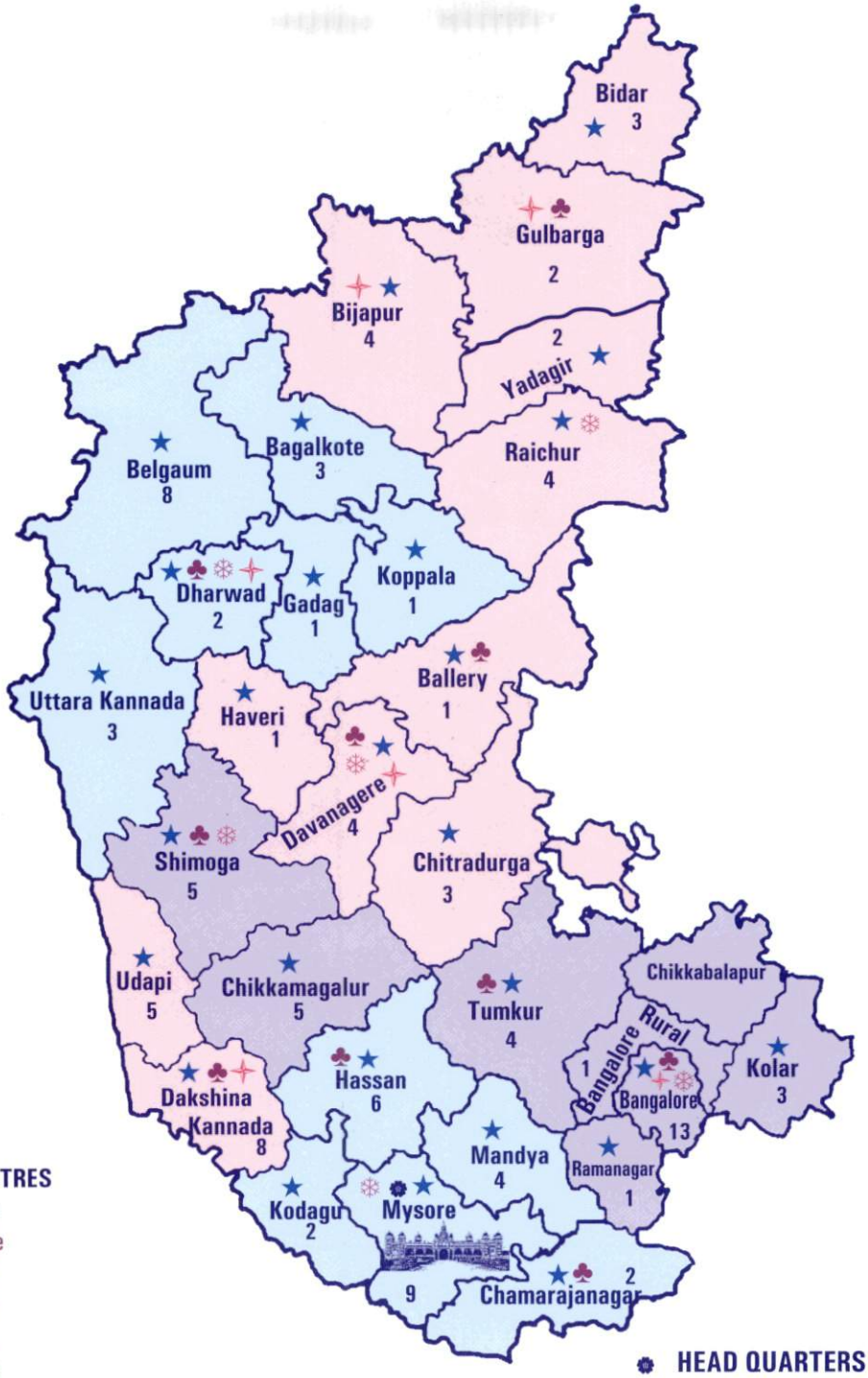

REGIONAL CENTRES

Bangalore
Davanagere
Gulbarga
Dharwad
Shimoga
Mangalore
Tumkur
Hassan
Chamarajanagar
Bellary

HEAD QUARTERS

Total Study Centres : 111

Regional Centres : 10

B.Ed Study Centres : 10

M.Ed Study Centres : 08

Karnataka State Open University

Manasagangothri, Mysore - 570 006.

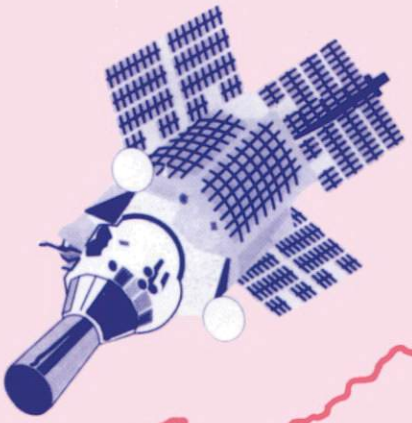

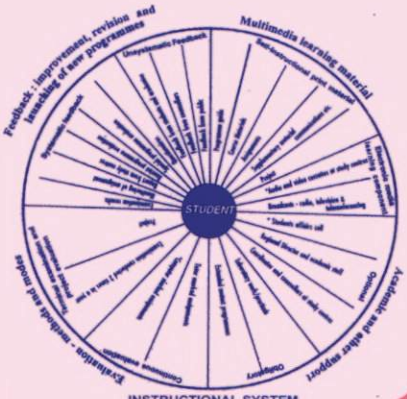

INSTRUCTIONAL SYSTEM